ऋणजल धनजल

ॠणजल धनजल

फणीश्वरनाथ रेणु



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली

प्राक्कथन

आपने रेणु जी की पुस्तक 'ऋणजल धनजल' के लिए कुछ लिखने को कहा है। मैं क्या लिखूं, समझ नहीं पा रहा हूं।

बिहार के जिस सूखे की कथा इसमें है उससे लोहा लेने की कोशिश मैंने भी की थी। किसी भी विपत्ति से ग्रस्त लोग मुझे बराबर टकसाते रहे है, और मैं भरसक जो सूझता रहा है, करता गया हूं। रेणु जी ने इस पुस्तक में बिहार की जिस बाढ़ का जिक्र किया है उसकी भयानकता भी मैंने, चण्डीगढ़ की अपनी एकान्त कैद में, महसूस की थी। बाढ़ की उस खबर ने ही मुझे इतना विह्वल कर दिया था कि मैंने इंदिरा जी को एक महीने के पैरोल के लिए पत्र लिखा था। उस बाढ़ की थाह लेने का मौका मुझे तो नहीं दिया गया, पर रेणु जी उसमें खूब डूबे। मनुष्य ही किसी क्रांतिकारी का और किसी साहित्यकार का, प्राणबिंदु होता है। मनुष्य, उसकी दूसरी एकाग्रता तोड़ देता है। मैं अब तक अपनी सामर्थ्य भर मनुष्य की मुसीबतों से जूझने का प्रयास करता रहा हूं। रेणु जी ने भी यह लड़ाई, अपनी कलम के माध्यम से लड़ी है। उनका सारा साहित्य, इस दृष्टि से अनेक समकालीन मनुष्य का इतिहास है।

रेणु जी मेरे लिए सिर्फ लेखक नहीं थे बल्कि सहयात्री भी थे। बिहार आन्दोलन में वे मेरे साथ किसी भी हद तक जाने को तैयार थे। अब तो

वे इतनी दूर चल गये हैं कि ईश्वर की मर्जी के वगैर वहाँ तक पहुँचना असम्भव-सा है।

'ऋणजल-धनजल' पढ़ते हुए अक्सर मुझे रेणु जी का चेहरा याद आया वह चेहरा जो हमारे बीच था, हम सब के साथ था।

उनकी स्मृत में मेरे प्रणाम !

१६-११-१९७७ जयप्रकाश नारायण

प्रकाशकीय

यह सच, एक दुखद सच है कि रेणुजी की भौतिक काया नि.शेष हो चुकी है, लेकिन साथ-ही-साथ, यह भी सच है कि रेणुजी हमारे बीच आज भी मौजूद हैं—अपने सम्मोहक व्यक्तित्व से जुड़ी स्मृतियों के रूप मे, जो समय-असमय हमारे मन को झकझोरती और भारी कर जाती हैं; तथा उन अक्षर-कृतियों के रूप में, जो हमारे लिए और आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी प्रेरणा का अक्षय स्रोत बनी रहेंगी।

रेणुजी की यह कृति—ऋणजल धनजल—कई दृष्टियो से ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। पहली और मुख्य बात, कि बाढ़ और सूखे की दो अभूत-पूर्व दुर्घटनाओं का यह ऐतिहासिक दस्तावेज है, और दूसरी, कि इसके प्रकाशन की पूरी रूपरेखा तय करने के साथ-साथ इसका नामकरण तक उन्होंने स्वयं किया था, और इसके लिए पन्द्रह-बीस पृष्ठों की एक भूमिका लिख चुकने की सूचना भी उन्होने दी थी। किन्तु, दुर्योगवश, वह महत्त्वपूर्ण भूमिका हमे उपलब्ध नहीं हुई और उसी बीच सहसा उन्होंने हमेशा-हमेशा के लिए आँखें मूँद ली।

रेणुजी के जीवनकाल में यह पुस्तक प्रकाशित नही हो सकी, इसकी कचोट हमें हमेशा रहेगी। और, अब यह पुस्तक उनकी उस भूमिका के बगैर ही प्रकाशित हो रही है, यह दुहरा दुख भी उस कचोट में शामिल हो गया है।

यह एक मूल्यवान धरोहर थी रेणुजी की, जिसे अब हम पाठकों के हाथ में दे रहे हैं। रेणुजी के प्रति हमारी यह मूक श्रद्धांजलि है।

श्रद्धांजलि

कवि की यात्राएँ : रघुवीर सहाय
समग्र मानवीय दृष्टि : निर्मल वर्मा

कवि की यात्राएँ

रघुवीर सहाय

फणीश्वरनाथ 'रेणु' उन गिने-चुने लोगों में से थे जिनसे एक बार मिलने के बाद फिर उनके बारे में और कुछ जानना रह नहीं जाता। प्रेम से भरा व्यक्तित्व कभी रहस्यमय बना रह सकता है? उससे तो हर बार मिलने पर ऐसा लगता है कि जहाँ पिछली बार छोड़ा था उससे आगे शुरू कर रहे हैं—ऐसा नहीं कि हर बार नये सिरे से जानना पड़ रहा है।

व्यक्ति सम्पूर्ण कहाँ होता है, केवल कम या ज्यादा सम्पूर्ण होता है। रेणु कम-से-कम इतने सम्पूर्ण थे कि हर परिवेश और हर सन्दर्भ में उनके मौलिक लक्षण एक ही रहते थे, रागानुराग के आरोह-अवरोह से उनका ठाठ नहीं बिगड़ता था। वह जैसा सोचते थे वैसा बोलते थे और जैसा बोलते थे वैसा लिखते थे—और फिर जब उसको पढ़ो तो लगता था कि रेणु बोल रहे हैं।

रेणु के लेखन की इस विशेषता की ओर कम आलोचकों का ध्यान गया है, यद्यपि यह इतनी स्पष्ट है कि इधर ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं पड़नी चाहिए थी। हो सकता है कि अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण ही यह विशेषता, विशेषता न मानी गयी हो।

जैसा हिन्दी आलोचना-जगत् का स्वभाव रहा है, विलक्षणता और विचित्रता खोजकर उससे चौंकने को आतुर सहृदयों ने रेणु की शैली को आंचलिक कहकर अपने को नागर जताने का प्रयत्न किया था। पर वह उनके अपने व्यक्तित्व की, न आंचलिक न नागर, बल्कि विश्वसनीय अभिव्यक्ति है। आंचलिक-जैसी कोई शैली या विषयवस्तु भी होती है, यह

मानना राजनैतिक केन्द्रीकरण के वज़न पर किसी सार्वदेशिक साहित्य के दम्भ की प्रतिष्ठा करना है।

रेणु ने दूसरों में ऐसे किसी दम्भ को कभी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं पाया कि या तो जवाब में कोई आंचलिक मुद्रा अपनाते या तथाकथित महानगरी साहित्य की नक़ल करने लगते। उनके लिए लोग ही सत्य थे—वहाँ तक सत्य जहाँ तक वह उन्हें जानते थे और उनसे एक हो सकते थे—चाहे वे कहीं के रहनेवाले हों। यह आस्था उनमें आजीवन बनी रही। मृत्यु से कुछ दिन पहले १५ और १६ मार्च को अस्पताल में दो बार उनसे लम्बी बातचीत हुई थी: तब वह कह रहे थे कि लोकसभा-चुनाव में जनता पार्टी जीतकर आ गयी तो हम लोगों को और अधिक काम करना पड़ जायेगा—अन्याय के प्रति सतत असहमति का और समाजवाद के विचार के विकास का काम आज (आपात-काल) से भी तब अधिक आवश्यक हो जायेगा। उन्हें बहुत-सी बातें, बहुत-से लोग याद आ रहे थे। यह कोई नयी बात न थी, और न यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार के संस्मरणों पर किसी आगामी आशंका की छाया मँडरा रही थी। नहीं, वह वैसे ही सहज भाव से अपनी जेल-यात्राएँ याद कर रहे थे जैसा मैंने उनके मुख पर १९७४ में देखा था। उन्होंने हँसकर कहा: एक ज़माने में क्रान्तिकारी जेल जाता था, तपेदिक का मरीज़ होता था और प्रेम करता था। मैंने इससे भी अधिक किया। ये तीनों करके विवाह भी किया। फिर ललक कर बोले: दिनमान के लिए एक धारावाहिक संस्मरण-माला लिखूँगा—'मेरी प्रणय-कहानी'। वह ऑपरेशन से हमेशा के लिए अच्छे हो जाने को आतुर थे और उसके बाद यही संस्मरण लिखना नहीं, १९७४ की जेलयात्रा में 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के अपने पात्रों से कैसे दोबारा भेंट हुई, इसकी कहानी लिखने के पुराने वायदे को पूरा करना चाह रहे थे। उनके भीतर लोग-ही-लोग जाग रहे थे, चल रहे थे, गा रहे थे और उन्हीं लोगों के बीच वह स्वयं खड़े हुए थे, अपनी युवावस्था के प्रवर्तक अनुभव—प्रेमविवाह की किंचित् विनोदभरी स्मृति से मग्न, परन्तु आत्मकेन्द्रित नहीं।

उन्हें अपने भीतर की करुणा और न्यायप्रियता पर सहज विश्वास

था कि वह—कवि की एकमात्र पूंजी—अपने-आपको सूद-दर-सूद बढ़ाती रहेगी। न कोई शास्त्र उनका सम्बल था न कोई मतवाद, यहाँ तक कि वह भक्तिभाव भी नहीं जो उन्होंने परम्परा से दान में पाया था; बल्कि उसको तो झकझोरकर ही वह कुछ लिख पाते थे, या कहें कि उसको झकझोरने के लिए ही वह लिखते थे।

उनके लेखन में अपूर्व वर्णनशक्ति है और वह सिवाय उतनी ही अपूर्व पर्यवेक्षण-शक्ति के और कहाँ से आ सकती है? वह चारों ओर जो कुछ देखते हैं उसके ब्योरे उनके लिए रमणीय होते हैं पर लिखने के लिए स्मृति में रखने योग्य ब्योरों का चुनाव करते समय वे निर्ममता से बहुत-से ब्योरों को रद्द करते जाते होंगे, यह उनके अद्वितीय चयन से ही प्रकट है। यह दुर्लभ गुण उन्हें उन तमाम हिन्दी-लेखकों से ऊँचे स्थान पर ला बिठाता है जो ब्योरों को घटिया लोगों का रोजगार और उपदेश को, अथवा दार्शनिकता को, श्रेष्ठ साहित्यिक कर्म मानते हैं। रेणु का देखना एक ही साथ बाहर और भीतर दोनों ओर होता है। यही उनके ब्योरों को अर्थ दे जाता है: अलग से अर्थ गढ़कर बनाने की ज़रूरत तो उन्हें होती ही नहीं, सीधे शब्दों से उलथा करके बताना भी उनकी शैली में अनावश्यक हो जाता है।

इस तरह रेणु अपनी ही किस्म के एक सन्देशवाहक हैं। वह जिसका संदेसा लाते हैं उसके-जैसे हुए बिना ला नहीं सकते और जब वह उसके-जैसे होने को कोशिश करते हैं, यानी जहाँ उन्हें कोशिश करनी पड़ती है, तो वह उस कोशिश को छिपाते नहीं—जैसे सितारवादक सितार की ओर उसकी सुन्दरियों पर चलनेवाले हाथ को नहीं छिपाता, जबकि हाथ नहीं स्वर ही उसका प्रेय है (यह झलक मूषा-वृत्तान्त में मिलेगी)। उनमें अपनी रचना-प्रक्रिया के प्रति यह विश्लेषणात्मक रुझान आधुनिक कवि का है जो अपने परिवेश से सम्बन्ध इस स्वीकार के साथ बनाता है कि कोई बना-बनाया सम्बन्ध नहीं है, न किसी बने-बनाये सम्बन्ध की घोषणा कर देने से ही वह बन जायेगा। जहाँ परिवेश से यह सम्बन्ध अपेक्षया कम प्रयत्नसाध्य होता है वहाँ वह अकारण आधुनिकता का दावा करने के लिए उसका विस्फीत प्रदर्शन नहीं करते। १६७५ के भय और आतंक में

मानना राजनैतिक केन्द्रीकरण के वज़न पर किसी सार्वदेशिक साहित्य के दम्भ की प्रतिष्ठा करना है।

रेणु ने दूसरों में ऐसे किसी दम्भ को कभी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं पाया कि या तो जवाब में कोई आंचलिक मुद्रा अपनाते या तथाकथित महानगरी साहित्य की नक़ल करने लगते। उनके लिए लोग ही सत्य थे—वहाँ तक सत्य जहाँ तक वह उन्हें जानते थे और उनसे एक हो सकते थे—चाहे वे कहीं के रहनेवाले हों। यह आस्था उनमें आजीवन बनी रही। मृत्यु से कुछ दिन पहले १५ और १६ मार्च को अस्पताल में दो बार उनसे लम्बी बातचीत हुई थी : तब वह कह रहे थे कि लोकसभा-चुनाव में जनता पार्टी जीतकर आ गयी तो हम लोगों को और अधिक काम करना पड़ जायेगा—अन्याय के प्रति सतत असहमति का और समाजवाद के विचार के विकास का काम आज (आपात-काल) से भी तब अधिक आवश्यक हो जायेगा। उन्हें बहुत-सी बातें, बहुत-से लोग याद आ रहे थे। यह कोई नयी बात न थी, और न यही कहा जा सकता है कि इस प्रकार के संस्मरणों पर किसी आगामी आशंका की छाया मँडरा रही थी। नहीं, वह वैसे ही सहज भाव से अपनी जेल-यात्राएँ याद कर रहे थे जैसा मैंने उनके मुख पर १९७४ में देखा था। उन्होंने हँसकर कहा : एक ज़माने में क्रान्तिकारी जेल जाता था, तपेदिक का मरीज़ होता था और प्रेम करता था। मैंने इससे भी अधिक किया। ये तीनों करके विवाह भी किया। फिर ललक कर बोले : दिनमान के लिए एक धारावाहिक संस्मरण-माला लिखूँगा—'मेरी प्रणय-कहानी'। वह ऑपरेशन से हमेशा के लिए अच्छे हो जाने को आतुर थे और उसके बाद यही संस्मरण लिखना नहीं, १९७४ की जेलयात्रा में 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के अपने पात्रों से कैसे दोबारा भेंट हुई, इसकी कहानी लिखने के पुराने वायदे को पूरा करना चाह रहे थे। उनके भीतर लोग-ही-लोग जाग रहे थे, चल रहे थे, गा रहे थे और उन्हीं लोगों के बीच वह स्वयं खड़े हुए थे, अपनी युवावस्था के प्रवर्तक अनुभव—प्रेमविवाह की किंचित् विनोदभरी स्मृति से मग्न, परन्तु आत्मकेन्द्रित नहीं।

उन्हें अपने भीतर की करुणा और न्यायप्रियता पर सहज विश्वास

था कि वह—कवि की एकमात्र पूंजी—अपने-आपको सूद-दर-सूद बढ़ाती रहेगी। न कोई शास्त्र उनका सम्बल था न कोई मतवाद, यहाँ तक कि वह भक्तिभाव भी नहीं जो उन्होंने परम्परा से दान में पाया था; बल्कि उसको तो झकझोरकर ही वह कुछ लिख पाते थे, या कहें कि उसको झकझोरने के लिए ही वह लिखते थे।

उनके लेखन में अपूर्व वर्णनशक्ति है और यह सिवाय उतनी ही अपूर्व पर्यवेक्षण-शक्ति के और कहाँ से आ सकती है? वह चारों ओर जो कुछ देखते हैं उसके ब्यौरे उनके लिए रमणीय होते हैं पर लिखने के लिए स्मृति में रखने योग्य ब्यौरों का चुनाव करते समय वे निर्ममता से बहुत-से ब्यौरों को रद्द करते जाते होंगे, यह उनके अद्वितीय चयन से ही प्रकट है। यह दुर्लभ गुण उन्हें उन तमाम हिन्दी-लेखकों से ऊँचे स्थान पर ला बिठाता है जो ब्यौरों को घटिया लोगों का रोजगार और उपदेश को, अथवा दार्शनिकता को, श्रेष्ठ साहित्यिक कर्म मानते हैं। रेणु का देखना एक ही साथ बाहर और भीतर दोनों ओर होता है। यही उनके ब्यौरों को अर्थ दे जाता है: अलग से अर्थ गढ़कर बनाने की जरूरत तो उन्हें होती ही नहीं, सीधे शब्दों से उलथा करके बताना भी उनकी शैली में अनावश्यक हो जाता है।

इस तरह रेणु अपनी ही किस्म के एक सन्देशवाहक हैं। वह जिसका संदेसा लाते हैं उसके-जैसे हुए बिना ला नहीं सकते और जब वह उसके-जैसे होने की कोशिश करते हैं, यानी जहाँ उन्हें कोशिश करनी पड़ती है, तो वह उस कोशिश को छिपाते नहीं—जैसे सितारवादक सितार की ओर उसकी सुन्दरियों पर चलनेवाले हाथ को नहीं छिपाता, जबकि हाथ नहीं स्वर ही उसका प्रेय है (यह झलक सूखा-वृत्तान्त में मिलेगी)। उनमें अपनी रचना-प्रक्रिया के प्रति यह विश्लेषणात्मक रुझान आधुनिक कवि का है जो अपने परिवेश से सम्बन्ध इस स्वीकार के साथ बनाता है कि कोई बना-बनाया सम्बन्ध नहीं है, न किसी बने-बनाये सम्बन्ध की घोषणा कर देने से ही वह बन जायेगा। जहाँ परिवेश से यह सम्बन्ध अपेक्षया कम प्रयत्नसाध्य होता है वहाँ वह अकारण आधुनिकता का दावा करने के लिए उसका विस्फीत प्रदर्शन नहीं करते। १९७५ के भय और आतंक में

पटना की बाढ़ में अपने घर में नज़रबन्द रेणु को सूखाक्षेत्र में जाने की तरह का और नये चेहरों में अपना चेहरा पहचानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, पर वह जहाँ हैं वहीं से जाते बहुत दूर-दूर तक हैं। मनुष्य, पशु-पक्षी, जो भी चलता दिखता है उसके साथ-साथ जाते हैं। उनमें बिना अपना चेहरा पहचाने उनका लेखक पूर्ण नहीं होता चाहे वह घर से बाहर न निकले हों और अजनबियों के बीच न गये हों।

रेणु के जो दो वृत्तान्त यहाँ प्रकाशित हैं, एक प्रकार से उनके रचना-जगत् की एक अद्भुत घटना के प्रमाण हैं। एक में जहाँ उन्हें देश पार कर कहीं जाना पड़ा है वह काल में अपने भीतर गये बिना अपूर्ण रहते हैं, दूसरे में जहाँ देश का संक्रमण नहीं होता वहाँ काल में उनकी यात्रा अनिवार्य हो गयी है। तभी न कहा है कि रेणु एक सम्पूर्ण व्यक्ति हैं।

दोनों वृत्तान्तों में नौ वर्ष का अन्तर है (इस बीच उन्होंने 'दिनमान' में एक और संस्मरणमाला, नेपाल-क्रान्ति के अपने अनुभवों को लेकर प्रकाशित की थी)। लेखक के मन में अपने कवि-मानस की निरन्तरता की इच्छा का अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि उन्होंने यह संकलन तैयार करते हुए ऊपर से देखने पर दैवी परन्तु, वास्तव में मानवकृत संकटों के अपने नौ वर्ष पहले और बाद के अनुभवों को अन्तर्युक्त माना। रेणु ने अकाल-जैसे सामाजिक अनुभव में बैठकर १९६६ के पहले भी कुछ-न-कुछ लिखा था, किन्तु अवश्य ही निरी किताब बनाना उनका उद्देश्य न था। किसी ईमानदार लेखक के लिए किताब की संरचना भी उतनी ही सृजनात्मक होती है जितनी उसमें या अन्यत्र संकलित उसकी रचनाएँ हैं और 'ऋणजल' और 'धनजल' को एक साथ रखने में निश्चय ही रेणु का कोई रचनात्मक प्रयोजन रहा होगा—निरा शब्द-चमत्कार नहीं।

रेणु इस संकलन की एक भूमिका लिख रहे थे या लिख चुके थे। गाँव से फरवरी '७६ के एक पत्र में उन्होंने प्रकाशक को बताया था कि पन्द्रह-बीस पृष्ठ की वह भूमिका रवाना की जा रही है, "जिस दिन भूमिका लिखने बैठा, चासनाला खदान की अभूतपूर्व दुर्घटना घट गयी··· भूमिका में १५ जनवरी '३४ के भूकम्प से लेकर अब तक के दैवी प्रकोपों के (जिन्हें याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं) छुटपुट संस्मरण हैं···मैंने अपनी इन

रचनाओं को 'जुर्नल' कहा है।" वह भूमिका कभी प्राप्त नहीं हुई। इससे हम रेणु के रचना-प्रक्रिया-जगत् में बैठकर अनुमान ही लगा सकते हैं कि किस कलात्मक कारण से उन्होंने इस पुस्तक की सृष्टि की होगी। वह कारण बहुत करके यही रहा होगा कि इन दो वृत्तान्तों में वह भीतर से बाहर और बाहर से भीतर की अपनी मानस-यात्राओं का रचनात्मक अन्तस्सम्बन्ध देख पाये थे। इन लेखों में कहानी, कविता या नाटक उस रूप में विद्यमान नहीं है जिसमें साहित्यिक व्याख्याता उन्हें देखने के आदी हो चुके हैं पर इनमें ये सब हैं और यह प्रमाण भी है कि कोई रपट भी उतनी सर्जनात्मक हो सकती है जितनी वह रचना, जो रपट नहीं है—बशर्ते कि लेखक अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग हो।

मग्र मानवीय दृष्टि

मंल वर्मा

मुझे याद है। वह एक लम्बा जलूस था, जो इमरजेन्सी से कुछ महीने ुले दिल्ली में निकाला गया था। जयप्रकाशजी सबसे आगे थे। हज़ारों ोग उनके पीछे उमड़े आ रहे थे। देश के कोने-कोने मे लोग जलूस में ामिल होने आये थे। मैं चलते-चलते अपनी पांत भूल बैठा और अजन- वियों के एक जत्थे में चला आया। साथ चलनेवाले सज्जन से पूछा कि वह कहाँ से आये हैं? "विहार से", उन्होंने कहा और तब तुरन्त बिना कुछ सोचे हुए मैं उनसे पूछ बैठा,"रेणुजी भी आये हैं?" उन्होंने गद्‌गद् दृष्टि से मुझे देखा। "नहीं, वह बीमार हैं। आ नहीं सके। आप उन्हें जानते हैं?"

मैं चुपचाप उनके साथ चलने लगा। आप उन्हें जानते हैं?—यह प्रश्न बहुत देर तक मेरे भीतर गूंजता रहा। मैं उनसे केवल दो-तीन बार मिला था, पर आज भी मैं आंखें मूंदकर उनका चेहरा हूबहू याद कर सकता हूं—उनके लम्बे झूलते बाल, एक संक्षिप्त-सी मुस्कराहट, जो सहज और अभिजात सौजन्य में भीगी रहती थी। कुछ लोगों में एक राजसी, 'अरिस्टोक्रेटिक' गरिमा होती है, जिसका ऊँचे या नीचे वर्ग से सम्बन्ध नहीं होता—वह सीधे संस्कारों से सम्बन्ध रखती है। रेणुजी में यह अभिजात भाव एक 'ग्रेस' की तरह व्याप्त रहता था। किन्तु जिस चीज़ ने सबसे अधिक मुझे अपनी तरफ खींचा वह उनका उच्छल हल्कापन था। वह छोटे-छोटे वाक्यों में संन्यासियों की तरह बोलते थे और फिर शरमा कर हंसने लगते थे। उनका 'हल्कापन' कुछ वैसा ही था जिसके बारे में चेखव ने एक बार कहा था, "कुछ लोग जीवन में बहुत भोगते-सहते हैं—

ऐसे आदमी ऊपर से बहुत हल्के और हँसमुख दिखायी देते हैं। वे अपनी पीड़ा दूसरों पर नहीं थोपते, क्योंकि उनकी शालीनता उन्हें अपनी पीड़ा का प्रदर्शन करने से रोकती है।"

रेणु ऐसे ही 'शालीन' व्यक्ति थे। पता नहीं ज़मीन की कौन-सी गहराई से उनका हल्कापन ऊपर आता था। यातना की कितनी परतों को फोड़कर उनकी मुस्कराहट में बिखर जाता था—यह जानने का मौक़ा कभी नहीं मिल सका।

वह अब नहीं हैं, मेरे लिए यह अब भी एक अख़बारी अफ़वाह है, जिस पर मैं विश्वास नहीं कर पाता। उनकी मृत्यु अभी तक मेरे लिए सत्य नहीं बनी है। मुझे हैरानी होती है कि उनकी बार-बार की बीमारी की ख़बर मुझे इस भयानक ख़बर के लिए तैयार नहीं कर पायी। हम कुछ मित्रों की बीमारी के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं जैसे उनकी कुछ जानी-पहचानी आदतों के—मृत्यु से उनका सम्बन्ध बिठाना असम्भव और असहनीय जान पड़ता है। मुझे अपना दुख भी असम्भव जान पड़ता है। जिस व्यक्ति को केवल दो-तीन बार देखा था उसके न रहने से मुझे अपनी लिखने की दुनिया इतनी सूनी और सुनसान जान पड़ने लगेगी, मैंने कभी ऐसा नहीं सोचा था।

अब सोचता हूँ. तो समझ में आता है, हमारी चीज़ों को चाहे बहुत कम लोग पढ़ें किन्तु हम लिखते बहुत कम लोगों के लिए हैं। मैं जिन लोगों को ध्यान में रखकर लिखता था उनमें रेणु सबसे प्रमुख थे। मैं हमेशा सोचता था, पता नहीं मेरी यह कहानी, यह लेख, यह उपन्यास पढ़कर वह क्या सोचेंगे। यह ख़याल ही मुझे कुछ छद्म और छिछला, कुछ दिखावटी लिखने से बचा लेता था। कुछ लोग हमेशा हम पर सेंसर का काम करते हैं—सत्ता का सेंसर नहीं, जिसमें भय और धमकी छिपी रहती है—किन्तु एक ऐसा सेंसर, जो हमारी आत्मा और 'कांशस', हमारे रचना-कर्म की नैतिकता के साथ जुड़ा होता है। रेणुजी का होना, उनकी उपस्थिति ही एक अंकुश और वरदान थी। जिस तरह कुछ साधु-सन्तों के पास बैठ कर ही असीम कृतज्ञता का अहसास होता है, हम अपने भीतर घुल जाते हैं, स्वच्छ हो जाते हैं, रेणुजी की मूक उपस्थिति हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसी

ही पवित्रता का बोध कराती थी।

वह समकालीन हिन्दी साहित्य के सन्त लेखक थे।

यहाँ मैं सन्त शब्द का उसके सबसे मौलिक और प्राथमिक अर्थों में इस्तेमाल कर रहा हूँ—एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया की किसी चीज़ को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता—हर जीवित तत्त्व में पवित्रता और सौन्दर्य और चमत्कार खोज लेता है—इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगनेवाली कुरूपता, अन्याय, अँधेरे और आँसुओं को नहीं देखता, बल्कि इन सबको समेटनेवाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है; दलदल को कमल से अलग नहीं करता, दोनों के बीच रहस्यमय और अनिवार्य रिश्ते को पहचानता है। सौन्दर्य का असली मतलब मनोहर चीज़ों का रसास्वादन नहीं, बल्कि गहरे अर्थ में चीज़ों के पारस्परिक सार्वभौमिक, दैवी रिश्ते को पहचानना होता है—इसलिए उसमें एक असीम साहस और विवेक तथा विनम्रता छिपी रहती है। इस अर्थ में हर सन्त-व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि में कवि और हर कवि अपने सृजनात्मक कर्म में सन्त होता है। रेणुजी का समूचा लेखन इस रिश्ते की पहचान है, इस पहचान की गवाही है और यह गवाही वह सिर्फ़ अपने लेखन में ही नहीं, ज़िन्दगी के नैतिक फ़ैसलों, न्याय और अन्याय, सत्ता और स्वतन्त्रता की संघर्ष-भूमि में भी देते हैं।

रेणुजी की इस पहचान में सौन्दर्य की नैतिकता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी नैतिक अन्तर्दृष्टि की संवेदना। दोनों के भीतर एक रिश्ता है, जिसके एक छोर पर 'मैला आँचल' है, तो दूसरे छोर पर है जयप्रकाशजी की सम्पूर्ण क्रान्ति। दोनों अलग-अलग नहीं हैं—वे एक ही स्वप्न, एक लालसा, एक 'विज़न' के दो पहलू हैं। एक-दूसरे पर टिके हैं। कलात्मक 'विज़न' और क्रान्ति दोनों की पवित्रता उनकी समग्र दृष्टि में निहित है, सम्पूर्णता की माँग करती है: एक ऐसी सम्पूर्णता, जो समझौता नहीं करती, भटकती नहीं, सत्ता के टुकड़ों पर या कोरे सिद्धान्तों की आड़ में अपने को दूषित नहीं करती। वह एक ऐसा मूल्य है जो खुली हवा में साँस लेता है और इसलिए अन्तिम रूप से पवित्र और सुन्दर और स्वतन्त्र है।

यह आकस्मिक नहीं था कि रेणुजी की इस समग्र मानवीय दृष्टि को

अनेक जनवादी और प्रगतिवादी आलोचक सन्देह की दृष्टि से देखते थे—कैसा है यह अजीब लेखक, जो गरीबी की यातना के भीतर भी इतना रस, संगीत, इतना आनन्द छक सकता है, सूखी-परती जमीन के उदास मरुस्थल में सुरों, रंगों और गंधों की रासलीला देख सकता है। सौन्दर्य को बटोर सकता है, आँसुओं को परखता है, किन्तु उसके भीतर से झाँकती धूल-धूसरित मुस्कान को देखना नहीं भूलता—एक सौन्दर्यवादी की तरह नहीं, जो सुन्दरता को अन्य जीवित तत्त्वों से अलग करके उनका रसास्वादन करता है। रेणु एथीस्ट नहीं थे। किन्तु वह हाय-हाय करते, छाती पीटते प्रगतिशील लोगों के आडम्बर से बहुत दूर थे, जो मनुष्यों की यातना को उसके समूचे जीवन से अलग करके अपने सिद्धान्तों की लेबोरेटरी में एक रसायन की तरह इस्तेमाल करते हैं। कितनी बड़ी विडम्बना थी कि मार्क्सवादी आलोचक, जिन्हें सबसे पहले रेणुजी के महत्त्व को पहचानना था, अपने थोथे नारों में इतना आत्मलिप्त हो गये कि जनवादिता की दुहाई देते हुए सीधे अपनी नाक के नीचे जीवन्त जनवादी लेखक की *अवहेलना करते रहे। किन्तु यहाँ मैं गलत हूँ। यह विडम्बना नहीं थी।* यह एक ऐसी दृष्टि की भयानक परिणति थी जो एक तरफ अपने को प्रगतिशील घोषित करता था, दूसरी तरफ बिहार के जन-आन्दोलन को फासिस्ट और जयप्रकाशजी को देशद्रोही करार कर सकती थी: वह दृष्टि, जो शब्दों के साथ इतना सिनिकल ढंग से बलात्कार कर सकती है, यदि रेणु जी को प्रतिगामी, सौन्दर्यवादी लेखक प्रमाणित करने की कोशिश करे तो हमें क्षोभ अवश्य हो, आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

रेणुजी ने बहुत निकट से मनुष्य की पीड़ा, मजबूरी और गरीबी को देखा था, इसलिए वह उसके साथ कोई सैद्धान्तिक खिलवाड़ नहीं कर पाते थे। साहित्य में वह ऐसी उम्र में आये थे जब अनेक लेखक बहुत-सी किताबें लिख चुके होते हैं। वह अपने साथ अनुभवों की पूरी सम्पदा लाये थे। ये अनुभव उनके उपन्यासों में इतने ताजे और तात्कालिक जान पड़ते हैं कि लगता है कि जैसे उनके पात्रों में मिट्टी के जर्रे चिपके हैं, जिन्हें अभी-अभी उन्होंने धरती से निकालकर अपनी कथाओं में पिरोया है। उन्होंने जिस सूक्ष्म संवेदना और गहरे लगाव से बिहार के एक अंचल पूर्णिया की

ही पवित्रता का बोध कराती थी।

वह समकालीन हिन्दी साहित्य के सन्त लेखक थे।

यहाँ मैं सन्त शब्द का उसके सबसे मौलिक और प्राथमिक अर्थों में इस्तेमाल कर रहा हूँ—एक ऐसा व्यक्ति जो दुनिया की किसी चीज़ को त्याज्य और घृणास्पद नहीं मानता—हर जीवित तत्त्व में पवित्रता और सौन्दर्य और चमत्कार खोज लेता है—इसलिए नहीं कि वह इस धरती पर उगनेवाली कुरूपता, अन्याय, अँधेरे और आँसुओं को नहीं देखता, बल्कि इन सबको समेटनेवाली अबाध प्राणवत्ता को पहचानता है; दलदल को कमल से अलग नहीं करता, दोनों के बीच रहस्यमय और अनिवार्य रिश्ते को पहचानता है। सौन्दर्य का असली मतलब मनोहर चीजों का रसास्वादन नहीं, बल्कि गहरे अर्थ में चीज़ों के पारस्परिक सार्वभौमिक, दैवी रिश्ते को पहचानना होता है—इसलिए उसमें एक असीम साहस और विवेक तथा विनम्रता छिपी रहती है। इस अर्थ में हर सन्त-व्यक्ति अपनी अन्तर्दृष्टि में कवि और हर कवि अपने सृजनात्मक कर्म में सन्त होता है। रेणुजी का समूचा लेखन इस रिश्ते की पहचान है, इस पहचान की गवाही है और यह गवाही वह सिर्फ़ अपने लेखन में ही नहीं, ज़िन्दगी के नैतिक फ़ैसलों, न्याय और अन्याय, सत्ता और स्वतन्त्रता की संघर्ष-भूमि में भी देते हैं।

रेणुजी की इस पहचान में सौन्दर्य की नैतिकता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी नैतिक अन्तर्दृष्टि की संवेदना। दोनों के भीतर एक रिश्ता है, जिसके एक छोर पर 'मैला आँचल' है, तो दूसरे छोर पर है जयप्रकाशजी की सम्पूर्ण क्रान्ति। दोनों अलग-अलग नहीं हैं—वे एक ही स्वप्न, एक लालसा, एक 'विज़न' के दो पहलू हैं। एक-दूसरे पर टिके हैं। कलात्मक 'विज़न' और क्रान्ति दोनों की पवित्रता उनकी समग्र दृष्टि में निहित है, सम्पूर्णता की माँग करती है: एक ऐसी सम्पूर्णता, जो समझौता नहीं करती, भटकती नहीं, सत्ता के टुकड़ों पर या कोरे सिद्धान्तों की आड़ में अपने को दूषित नहीं करती। वह एक ऐसा मूल्य है जो खुली हवा में साँस लेता है और इसलिए अन्तिम रूप से पवित्र और सुन्दर और स्वतन्त्र है।

यह आकस्मिक नहीं था कि रेणुजी की इस समग्र मानवीय दृष्टि को

अनेक जनवादी और प्रगतिवादी आलोचक सन्देह की दृष्टि से देखते थे—कैसा है यह अजीब लेखक, जो गरीबी की यातना के भीतर भी इतना रस, संगीत, इतना आनन्द छक सकता है, सूखी-परती जमीन के उदास मरुस्थल में सुरों, रंगों और गंधों की रासलीला देख सकता है। सौन्दर्य को बटोर सकता है, आँसुओं को परखता है, किन्तु उसके भीतर से झाँकती धूल-धूसरित मुस्कान को देखना नहीं भूलता—एक सौन्दर्यवादी की तरह नहीं, जो सुन्दरता को अन्य जीवित तत्वों से अलग करके उनका रसास्वादन करता है। रेणु एथीस्ट नहीं थे। किन्तु वह हाय-हाय करते, छाती पीटते प्रगतिशील लोगों के आडम्बर से बहुत दूर थे, जो मनुष्यों की यातना को उसके समूचे जीवन से अलग करके अपने सिद्धान्तों की लेबोरेटरी में एक रसायन की तरह इस्तेमाल करते हैं। कितनी बड़ी विडम्बना थी कि मार्क्सवादी आलोचक, जिन्हें सबसे पहले रेणुजी के महत्त्व को पहचानना था, अपने थोथे नारों में इतना आत्मलिप्त हो गये कि जनवादिता की दुहाई देते हुए सीधे अपनी नाक के नीचे जीवन्त जनवादी लेखक की अवहेलना करते रहे। किन्तु यहाँ मैं गलत हूँ। यह विडम्बना नहीं थी। यह एक ऐसी दृष्टि की भयानक परिणति थी जो एक तरफ अपने को प्रगतिशील घोषित करता था, दूसरी तरफ बिहार के जन-आन्दोलन को फ़ासिस्ट और जयप्रकाशजी को देशद्रोही करार कर सकती थी: वह दृष्टि, जो शब्दों के साथ इतना सिनिकल ढंग से बलात्कार कर सकती है, यदि रेणु जी को प्रतिगामी, सौन्दर्यवादी लेखक प्रमाणित करने की कोशिश करे तो हमें क्षोभ अवश्य हो, आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

रेणुजी ने बहुत निकट से मनुष्य की पीड़ा, मजबूरी और गरीबी को देखा था, इसलिए वह उसके साथ कोई सैद्धान्तिक खिलवाड़ नहीं कर पाते थे। साहित्य में वह ऐसी उम्र में आये थे जब अनेक लेखक बहुत-सी किताबें लिख चुके होते हैं। वह अपने साथ अनुभवों की पूरी सम्पदा लाये थे। ये अनुभव उनके उपन्यासों में इतने ताजे और तात्कालिक जान पड़ते हैं कि लगता है कि जैसे उनके पात्रों में मिट्टी के जर्रे चिपके हैं, जिन्हें अभी-अभी उन्होंने धरती से निकालकर अपनी कथाओं में पिरोया है। उन्होंने जिस सूक्ष्म संवेदना और गहरे लगाव से बिहार के एक अंचल पूर्णिया की

ज़मीन को कुरेदा था उसके फैलाव को महीन और मांसलछवियों में ध्वनित किया था, उसके लिए गद्य की भाषा को अप्रत्याशित रूप से काव्यात्मक मुहावरे में ढाला था—वह हिन्दी उपन्यास में अभूतपूर्व घटना थी। अभूतपूर्व इस अर्थ में नहीं कि उनसे पूर्व किसी अन्य लेखक ने अपने गाँव या क्षेत्र पर उपन्यास नहीं लिखे थे। अनेक कथाकारों का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने उनसे पहले भी आंचलिक उपन्यास लिखे थे। रेणु का स्थान यदि अपने पूर्ववर्ती और समकालीन आंचलिक कथाकारों से अलग और विशिष्ट है तो वह इसमें हैं कि आंचलिक उनका सिर्फ़ परिवेश था, उसके भीतर बहती जीवनधारा स्वयं अपने अंचल की सीमाओं का उल्लंघन करती थी। रेणु का महत्त्व उनकी आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भूखण्ड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान की नियति-रेखा को उजागर किया था। यह रेखा किसान की किस्मत और इतिहास के हस्तक्षेप के बीच गुँथी हुई थी, जहाँ गांधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन, सोशलिस्ट पार्टी के आदर्श, किसान सभाओं की मीटिंगें अलग-अलग धागों से रेणु का संसार बुनती हैं। सैकड़ों पात्र आते हैं, जाते हैं—उनकी गति, उनका ठहराव, उनकी ऊहापोह और आत्मसंघर्ष एक पूरी इमेज हम पर अंकित कर जाता है। सिनेमा के परदे पर हम जैसे आइन्स्टाइन की फ़िल्मों में व्यक्ति और समूह, चलती हुई भीड़ में स्तब्ध चेहरे और अनेक का गत्यात्मक द्वन्द्व, हलचल और तनाव देखते हैं; बिल्कुल जैसे पूर्णिया के परदे पर उसकी पीठिका में हम भारतीय ग्रामवासी और इतिहास के बीच मुठभेड़ और टकराव की गड़गड़ाहट सुनते हैं। एक ऐसा क्षण आता है जब पात्र और पीठिका में कोई अन्तर नहीं रहता—दोनों एक-दूसरे में इतना गुँथ जाते हैं कि मनुष्य, धरती और इतिहास के बीच सीमाएँ धुल-सी जाती हैं किन्तु आपसी मुठभेड़ से जो बिजली चमकती है, बिहार के अवसन्न, धूलभरे आकाश में जो चिनगारी कौंधती है, रेणु ने कैमरे की आँखों से उसे अपनी जीवन्त फड़फड़ाती तात्कालिकता में पकड़ने की कोशिश की थी।

यह अद्भुत ड्रामा था! शायद ही किसी हिन्दी उपन्यासकार ने उप-

न्यास की 'नेरेटिव' परम्परा को झिझोड़ कर उसे प्रेमचन्दीय ढांचे से बाहर निकाल कर इतना नाटकीय, इतना लचीला, इतना काव्यात्मक बनाया था जितना रेणु ने और यह नाटकीयता, यह कविता अलंकारमय और कृत्रिम नहीं थी, क्योंकि परम्पराग्रस्त किसान और आधुनिक ऐतिहासिक आन्दोलन के बीच जिस मुठभेड़ को रेणु ने अपना विषय बनाया था उसमें पहले से ही बारूदी नाटकीय विद्यमान थे। उनमें सिर्फ दिया-सलाई लगाने की देर थी।

रेणु ने जिस तीली से किसान के उदास, धूल-धूसरित क्षितिज में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था उसी तीली से हिन्दी के परम्परागत यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे को भी एकाएक ढहा दिया था। मेरे विचार में यह रेणु की अविस्मरणीय देन और उपलब्धि है। मैला आँचल और परती परिकथा महज़ उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नहीं हैं, वे भारतीय साहित्य मे पहले उपन्यास हैं जिन्होंने अपने अमित ढंग से, झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नयी दिशा दिखायी थी, जो यथार्थवादी उपन्यास के ढांचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नेरेटिव, कथ्यात्मक परम्परा को तोड़ा था—उसे अलग-अलग 'एपीसोड' में बांटा था, जिन्हें जोड़नेवाला धागा कथा का सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैंडस्केप था जो अपनी आत्यन्तिक लय में उपन्यास को रूप और फॉर्म देता है। रेणुजी के यहाँ समय में बंधी घटनाएँ नही, ऊबड़खाबड़ जिन्दगियो की यह लय, यह स्पंदन उपन्यास के हिस्सो को एक-दूसरे से जोड़ता है। रेणुजी पहले कथाकार थे जिन्होंने भारतीय उपन्यास की जातीय सम्भावनाओं की तलाश की थी; शायद सजग रूप से कहीं, शिल्प और सिद्धान्त के स्तर पर तो अवश्य ही नही, बल्कि एक ऐसे रचनात्मक स्तर पर जहाँ जिन्दगी का कच्चा माल स्वयं कलाकार के हाथो अपने प्राण, जो फॉर्म का दूसरा नाम है, खींच लेता है, ताकि वह एक नये खुले, मुक्त ढांचे मे सांस ले सके। फॉर्म की असली उपलब्धि इसी प्राणवत्ता मे निहित है—बाकी सब प्रश्न तकनीकी और शिल्प के हैं। आलोचक की बहस का विषय जरूर हों, कथाकार का उनसे कोई नाता नही।

मैं रेणु जी की मृत्यु को असामयिक नहीं कहूँगा। हर मृत्यु एक तरह से असामयिक होती है, क्योंकि जिन्दगी का कारोबार किसी विन्दु पर पूरा नहीं होता, किन्तु खास इस दौर में—इमेरजेंसी की यातना के बाद उनका अचानक हमारे बीच से चला जाना बहुत क्रूर और असहनीय जान पड़ता है। यह उनकी विजय का क्षण था और वह नहीं हैं!

ऋणजल धनजल

बाढ़ : १६७५

कुत्ते की आवाज़

मेरा गाँव ऐसे इलाक़े में है जहाँ हर साल पश्चिम, पूरब और दक्षिण की—कोशी, पनार, महानंदा और गंगा की—बाढ़ से पीड़ित प्राणियों के समूह आकर पनाह लेते हैं, सावन-भादों मे ट्रेन की खिड़कियों से विशाल और सपाट परती पर गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरों के हज़ारों झुण्ड-मुण्ड देखकर ही लोग बाढ़ की विभीषिका का अन्दाज़ लगाते हैं।

परती क्षेत्र में जन्म लेने के कारण अपने गाँव के अधिकांश लोगो की तरह मैं भी तैरना नही जानता। किन्तु दस वर्ष की उम्र से पिछले साल तक—ब्वॉय स्काउट, स्वयंसेवक, राजनीतिक कार्यकर्त्ता अथवा रिलीफ-वर्कर की हैसियत से बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों मे काम करता रहा हूँ। और लिखने की बात? हाई स्कूल में बाढ़ पर लेख लिखकर प्रथम पुरस्कार पाने से लेकर—'धर्मयुग' में 'कथा-दशक' के अन्तर्गत बाढ़ की पुरानी कहानी को नये पाठ के साथ प्रस्तुत कर चुका हूँ। जय गंगा (1947), डायन कोशी (48), हड्डियों का पुल (48) आदि छुटपुट रिपोर्ताज के अलावा मेरे कई उपन्यासो मे बाढ़ की विनाश-लीलाओं के अनेक चित्र अंकित हुए हैं। किन्तु, गाँव में रहते हुए बाढ़ से घिरने, बहने, भंसने और भोगने का अनुभव कभी नही हुआ। वह तो पटना शहर मे 1967 मे ही हुआ, जब अट्ठारह घण्टे की अविराम वृष्टि के कारण पुनपुन का पानी राजेन्द्र नगर, कंकड़ बाग तथा अन्य निचले हिस्सो मे घुस आया था। अर्थात् बाढ़ को मैंने भोगा है, शहरी आदमी की हैसियत से। इसलिए इस बार जब बाढ़ का पानी प्रवेश करने लगा, पटना का पश्चिमी इलाका

छाती-भर पानी में डूब गया तो हम घर में ईंधन, आलू, मोमबत्ती दियासलाई, सिगरेट, पीने का पानी और काम्पोज की गोलियाँ जमाकर बैठ गये और प्रतीक्षा करने लगे।

सुबह सुना, राजभवन और मुख्यमंत्री-निवास प्लवित हो गया है। दोपहर में सूचना मिली, गोलघर जल से घिर गया है! (यों, सूचना बंगला में इस वाक्य से मिली थी—"जानो! गोलघर डूबे गेछे!") और पाँच बजे जब कॉफ़ी हाउस जाने के लिए (तथा शहर का हाल मालूम करने) निकला तो रिक्शेवाले ने हँसकर कहा—"अब कहाँ जाइयेगा? कॉफ़ी हाउस में तो 'अबले' पानी आ गया होगा।"

"चलो, पानी कैसे घुस गया है, वही देखना है," कहकर हम रिक्शा पर बैठ गये। साथ में नयी कविता के एक विशेषज्ञ व्याख्याता-आचार्य-कवि मित्र थे, जो मेरी अनवरत अनर्गल-अनगढ़ गद्यमय स्वगतोक्ति से कभी बोर नहीं होते (धन्य हैं!)।

मोटर, स्कूटर, ट्रैक्टर, मोटर साइकिल, ट्रक, टमटम, साइकिल, रिक्शा पर और पैदल लोग पानी देखने जा रहे हैं, लोग पानी देखकर लौट रहे हैं। देखनेवालों की आँखों में, जुबान पर एक ही जिज्ञासा—'पानी कहाँ तक आ गया है?' देखकर लौटते हुए लोगों की बातचीत—"फ्रेजर रोड पर आ गया! आ गया क्या, पार कर गया। श्रीकृष्ण-पुरी, पाटलिपुत्र कॉलोनी, बोरिंग रोड, इण्डस्ट्रियल एरिया का कहीं पता नहीं···अब भट्टाचार्जी रोड पर पानी आ गया होगा।···छाती-भर पानी है। विमेंस कॉलेज के पास 'डुबाव-पानी' है।···आ रहा है!···आ गया!!···घुस गया···डूब गया···डूब गया···बह गया!"

हम जब कॉफ़ी हाउस के पास पहुँचे, कॉफ़ी हाउस बन्द कर दिया गया था। सड़क के एक किनारे एक मोटी डोरी की शक्ल में गेरुआ-झाग-फेन में उलझा पानी तेजी से सरकता आ रहा था। मैंने कहा—"आचार्यजी, आगे जाने की जरूरत नहीं। वह देखिए—आ रहा है···मृत्यु का तरल दूत!"

आतंक के मारे मेरे दोनों हाथ बरबस जुड़ गये और सभय प्रणाम-निवेदन में मेरे मुँह से कुछ अस्फुट शब्द निकले (हाँ, मैं बहुत कायर और

डरपोक हूँ !)।

रिक्शावाला बहादुर है। कहता है—"चलिए न—थोड़ा और आगे !"

भीड़ का एक आदमी बोला—"ए रिक्शा, करेंट बहुत तेज है। आगे मत जाओ !"

मैंने रिक्शावाले से अनुनय-भरे स्वर में कहा—"लौटा ले भैया। आगे बढ़ने की जरूरत नहीं।"

रिक्शा मोड़कर हम 'अप्सरा' सिनेमा-हॉल (सिनेमा-शो बन्द !) के बगल से गांधी मैदान की ओर चले। पैलेस होटल और इण्डियन एयर लाइंस दफ्तर के सामने पानी भर रहा था। पानी की तेज धारा पर लाल-हरे 'नियन' विज्ञापनों की परछाइयाँ सैकड़ों रंगीन साँपों की सृष्टि कर रही थीं। गांधी मैदान की रेलिंग के सहारे हजारों लोग खड़े देख रहे थे। दशहरा के दिन रामलीला के 'राम' के रथ की प्रतीक्षा में जितने लोग रहते हैं उससे कम नहीं थे···गांधी मैदान के आनन्द-उत्सव, सभा-सम्मेलन और खेल-कूद की सारी स्मृतियों पर धीरे-धीरे एक गैरिक आवरण आच्छादित हो रहा था। हरियाली पर शनैः-शनैः पानी फिरते देखने का अनुभव सर्वथा नया था।

कि इसी बीच एक अधेड़, मुस्टण्ड और गँवार जोर-जोर से बोल उठा—"ईह ! जब दानापुर डूब रहा था तो पटनियाँ बाबू लोग उलटकर देखने भी नहीं गये···अब बूझो !"

मैंने अपने आचार्य-कवि मित्र से कहा—"पहचान लीजिए। यही है वह 'आम आदमी', जिसकी खोज हर साहित्यिक गोष्ठियों में होती रहती है। उसके वक्तव्य में 'दानापुर' के बदले 'उत्तर बिहार' अथवा कोई भी बाढ़ग्रस्त ग्रामीण क्षेत्र जोड़ दीजिए···"

शाम के साढ़े सात बज चुके और आकाशवाणी के पटना-केन्द्र से स्थानीय समाचार प्रसारित हो रहा था। पान की दुकानों के सामने खड़े लोग चुपचाप, उत्कर्ण होकर सुन रहे थे···

"···पानी हमारे स्टूडियो की सीढ़ियों तक पहुँच चुका है और किसी भी क्षण स्टूडियो में प्रवेश कर सकता है।"

समाचार दिल दहलानेवाला था। कलेजा धड़क उठा। मित्र के चेहरे पर भी आतंक की कई रेखाएँ उभरीं। किन्तु हम तुरन्त ही सहज हो गये; यानी चेहरे पर चेष्टा करके सहजता ले आये, क्योंकि हमारे चारों ओर कहीं कोई परेशान नज़र नहीं आ रहा था। पानी देखकर लौटे हुए लोग आम दिनों की तरह हँस-बोल रहे थे; बल्कि आज तनिक अधिक ही उत्साहित थे। हाँ, दुकानों में थोड़ी हड़बड़ी थी। नीचे के सामान ऊपर किये जा रहे थे। रिक्शा, टमटम, ट्रक और टेम्पो पर सामान लादे जा रहे थे। ख़रीद-बिक्री बन्द हो चुकी थी। पानवालों की बिक्री अचानक बढ़ गयी थी। आसन्न संकट से कोई प्राणी आतंकित नहीं दिख रहा था।

···पानवाले के आदमक़द आईने में उतने लोगों के बीच हमारी ही सूरतें 'मुहर्रमी' नज़र आ रही थीं। मुझे लगा, अब हम यहाँ थोड़ी देर भी ठहरेंगे तो वहाँ खड़े लोग किसी भी क्षण ठठाकर हम पर हंस सकते थे—'ज़रा इन बुज़दिलों का हुलिया देखो?' क्योंकि वहाँ ऐसी ही बातें चारों ओर से उछाली जा रही थीं—"एक बार डूब ही जाये!···धनुष्कोटि की तरह पटना लापता न हो जाये कहीं!···सब पाप धुल जायेगा··· चलो, गोलघर के मुंडेरे पर ताश की गड्डी लेकर बैठ जायें···बिस्कोमान बिल्डिंग की छत पर क्यों नहीं?···भई, यही माक़ूल मौक़ा है। इनकम टैक्सवालों को ऐन इसी मौक़े पर काले कारबारियों के घर पर छापा मारना चाहिए। आसामी बा-माल···"

राजेन्द्रनगर चौराहे पर 'मैगज़िन कॉर्नर' की आखिरी सीढ़ियों पर पत्र-पत्रिकाएँ पूर्ववत् बिछी हुई थीं। सोचा, एक सप्ताह की ख़ुराक एक ही साथ ले लूं। क्या-क्या ले लूं?···हेडली चेज़, या एक ही सप्ताह में फ्रेंच/जर्मन सिखा देनेवाली किताबें, अथवा 'योग' सिखानेवाली कोई सचित्र किताब? मुझे इस तरह किताबों को उलटते-पलटते देखकर दुकान का नौजवान मालिक कृष्णा पता नहीं क्यों मुस्कराने लगा। किताबों को छोड़ कई हिन्दी-बँगला और अंगरेज़ी सिने पत्रिकाएँ लेकर लौटा। मित्र से विदा होते हुए कहा—"पता नहीं, कल हम कितने पानी में रहें। ···बहरहाल, जो कम पानी में रहेगा वह ज़्यादा पानी में फँसे मित्र की सुधि लेगा।"

फ्लैट में पहुँचा ही था कि 'जनसम्पर्क' की गाड़ी भी लाउडस्पीकर से घोषणा करती हुई राजेन्द्रनगर पहुँच चुकी थी। हमारे 'गोलम्बर' के पास कोई भी आवाज, चारों बड़े ब्लॉकों की इमारतों से टकराकर मंडराती हुई, चार बार प्रतिध्वनित होती है। सिनेमा अथवा लॉटरी की प्रचारगाड़ी यहाँ पहुँचते ही—'भाइयो' पुकारकर एक क्षण के लिए चुप हो जाती है। पुकार मंडराती हुई प्रतिध्वनित होती है—भाइयो···भाइयो···भाइयो···! एक अलमस्त जवान रिक्शाचालक है जो अक्सर रात के सन्नाटे में सवारी पहुँचाकर लौटते समय इस गोलम्बर के पास अलाप उठता है—'सुन मोरे बन्धू रे-ए-ए···सुन मोरे मितवा-वा-वा-य···'

गोलम्बर के पास जनसम्पर्क की गाड़ी से ऐलान किया जाने लगा—'भाइयो ! ऐसी सम्भावना है···कि बाढ़ का पानी···रात्रि के करीब बारह बजे तक···लोहानीपुर, कंकड़ बाग···और राजेन्द्रनगर में···घुस जाये। अतः आप लोग सावधान हो जायें।'

(प्रतिध्वनि। सावधान हो जायें ! सावधान हो जायें ! ! ···)

मैंने गृहस्वामिनी से पूछा—'गैस का क्या हाल है ?"

"बस, उसी का डर है। अब खत्म ही होनेवाला है। असल में सिलिण्डर में 'मीटर-उटर' की तरह कोई चीज नहीं होने से कुछ पता नहीं चलता। लेकिन, अन्दाज है कि एक या दो दिन···कोयला है। स्टोव है। मगर किरासन एक ही बोतल···'

"फ़िलहाल, बहुत है···बाढ़ का भी यही हाल है। मीटर-उटर की तरह कोई चीज नहीं होने से पता नहीं चलता कि कब आ धमके।"—मैंने कहा।

सारे राजेन्द्रनगर में 'सावधान-सावधान' ध्वनि कुछ देर गूँजती रही। ब्लॉक के नीचे की दुकानों से सामान हटाये जाने लगे। मेरे फ्लैट के नीचे के दुकानदार ने, पता नहीं क्यों, इतना कागज इकट्ठा कर रखा था। एक अलाव लगाकर सुलगा दिया। हमारा कमरा धुएँ से भर गया।

फ़ुटपाथ पर खुली चाय की झुग्गी दुकानों में सिगड़ियाँ सुलगी हुई थीं और यहाँ बहुत रात तक मण्डली बनाकर जोर-जोर से बातें करने का रोज का सिलसिला जारी था। बात के पहले या बाद में बगैर कोई गाली

जोड़े यहाँ नहीं बोला जाता—"गांधी मैदान (सरवा) एक दम लबालब भर गया···(अरे तेरी मतारी का) करंट में इतना जोर का फोर्स है कि (ससुरा) रिक्शा लगा कि उलटियै जायेगा···गांजा फुरा गया का हो रामसिंगार ? चल जाय एक चिलम 'बालुचरी-माल'—फिर यह शहर (वेट्च:) डूबे या उबरे।"

विजली ऑफ़िस के 'वाचमैन साहेब' ने पच्छिम की ओर मुँह करके ब्लॉक नम्बर एक के नीचे जमी दूसरी मण्डली के किसी सदस्य से ठेठ मगही में पूछा—"का हो ? पनियां आ रहलो है ?"

जवाब में एक कुत्ते ने रोना शुरू किया। फिर दूसरे ने सुर में सुर मिलाया। फिर तीसरे ने। करुण आर्त्तनाद की भयोत्पादक प्रतिध्वनियाँ सुनकर सारी काया सिहर उठी। किन्तु एक साथ क़रीब एक दर्जन मानव-कण्ठों से गालियों के साथ प्रतिवाद के शब्द निकले—"मार स्साले को। अरे चुप···चोप ! (प्रतिध्वनि : चोप ! चोप ! चोप ! !)

कुत्ते चुप हो गये। किन्तु आनेवाले संकट को वे अपने 'सिक्स्थ सेंस' से भांप चुके थे···अचानक विजली चली गयी। फिर तुरत ही आ गयी··· शुक्र है !

भोजन करते समय मुझे टोका गया—"की होलो ? खाच्छो ना केन ?"

"खाच्छि तो···खा तो रहा हूँ।" —मैंने कहा—"याद है ! उस बार जब पुनपुन का पानी आया था तो सबसे अधिक इन कुत्तों की दुर्दशा हुई थी।"

हमें 'भाइयो ! भाइयो ! सम्बोधित करता हुआ जनसम्पर्कवालों का स्वर फिर गूँजा। इस बार 'ऐसी सम्भावना है' के बदले 'ऐसी आशंका है' कहा जा रहा था। और ऐलान में 'खतरा' और 'होशियार' दो नये शब्द जोड़ दिये गये थे···आशंका ! खतरा ! होशियार···

रात के साढ़े दस-ग्यारह बजे तक मोटर-गाड़ियाँ, रिक्शे, स्कूटर, सायकिल तथा पैदा चलनेवालों की 'आवाजाही' कम नहीं हुई। और दिन तो अब तक सड़क सूनी पड़ जाती थी !···पानी अब तक आया नहीं ! सात बजे शाम को फ्रेजर रोड से आगे बढ़ चुका था।

नहीं, कुकुर नहीं···कुकुर को भगाओ !" बीमार नौजवान छप्-से पानी में उतर गया—"हमारा कुकुर नहीं जायेगा तो हम हुँ नहीं जायेगा।" फिर कुत्ता भी छपाक् पानी में गिरा—"हमारा आदमी नहीं जायेगा तो हम हुँ नहीं जायेगा"···परमान नदी की बाढ़ में डूबे हुए एक 'मुहसरी' (मुहसरों की बस्ती) में हम राहत बांटने गये। खबर मिली थी वे कई दिनों से मछली और चूहों को झुलसाकर खा रहे हैं। किसी तरह जी रहे हैं। किन्तु टोले के पास जब हम पहुँचे तो ढोलक और मंजीरा की आवाज़ सुनायी पड़ी। जाकर देखा, एक ऊँची जगह 'मचान' बनाकर स्टेज की तरह बनाया गया है। 'बलवाही' नाच हो रहा था। लाल साड़ी पहनकर काला-कलूटा 'नटुआ' दुलहिन का हाव-भाव दिखला रहा था; यानी, वह 'धानी' है। 'घरनी' धानी घर छोड़कर मायके भागी जा रही है और उसका घरवाला (पुरुष) उसको मनाकर राह से लौटाने गया है। घरनी कहती है—"तुम्हारी बहन की जुबान बड़ी तेज है। दिन-रात खराब गाली बकती रहती है और तुम्हारी बुढ़िया मां बात के पहले तमाचा मारती है। मैं तुम्हारे घर लौटकर नहीं जाती।" तब घरवाला उससे कहता है, यानी गा-गाकर समझाता है—'चल गे धानी घर घुरी, बहिनिक देवैं टांग तोड़ी धानी गे, बुढ़िया के करवैं घर से बा-हा-र' (ओ धानी, घर लौट चलो ! बहन के पैर तोड़ दूंगा और बुढ़िया को घर से बाहर निकाल दूंगा !) इस पद के साथ ही ढोलक पर द्रुत ताल बजने लगा—'धागिड़गिड़ धागिड़गिड़-चकैके चकधुम चकैके चकधुम-चकधुम चकधुम !' कीचड़-पानी में लथपथ भूखे-प्यासे नर-नारियों के झुण्ड में मुक्त खिलखिलाहट लहरें लेने लगती है। हम रिलीफ़ बांटकर भी ऐसी हँसी उन्हें दे सकेंगे क्या ! (शास्त्रीजी, आप कहाँ हैं ? बलवाही नाच की बात उठते ही मुझे अपने परम मित्र भोला शास्त्री की याद हमेशा क्यों आ जाती है ? यह कभी बाद में !)···एक बार, १९३७ में, सिमरवनी-शंकरपुर में बाढ़ के समय 'नाव' को लेकर लड़ाई हो गयी थी। मैं उस समय 'बालचर' (ब्वाय स्काउट) था। गांव के लोग नाव के अभाव में केले के पौधों का 'भेला' बनाकर किसी तरह काम चला रहे थे और वहीं सवर्ण ज़मींदार के लड़के नाव पर हारमोनियम-तबला के साथ 'झिझिर' (जल-विहार) करने निकले थे। गांव के नौजवानों ने मिलकर

रामसिंगार की मण्डली डाँटकर चुप करा देती है। चोप···चोप !

मुझे अचानक अपने उन मित्रों और स्वजनों की याद आयी जो कल से ही पाटलिपुत्र कॉलोनी, श्रीकृष्णपुरी, बोरिंग रोड के अथाह जल में घिरे हैं···जितेन्द्रजी, विनीताजी, बाबू भैया इन्दिराजी, पता नहीं कैसे है—किस हाल में हैं वे ! शाम को एक बार पड़ोस में जाकर टेलिफोन करने के लिए चोंगा उठाया—बहुत देर तक कई नम्बर डायल करता रहा। उधर सन्नाटा था एकदम। कोई शब्द नहीं—'टुंग फुंग' कुछ भी नहीं।

बिस्तर पर करवट लेते हुए फिर एक बार मन में हुआ, कुछ लिखना चाहिए। लेकिन क्या लिखना चाहिए ? कुछ भी लिखना सम्भव नहीं और क्या जरूरी है कि कुछ लिखा ही जाये ? नहीं। फिर स्मृतियों को जगाऊँ तो अच्छा···पिछले साल अगस्त में नरपतगंज थाना के चकरदाहा गाँव के पास छाती-भर पानी में खड़ी एक आसन्नप्रसवा हमारी ओर गाय की तरह टुकुर-टुकुर देख रही थी···

नहीं, अब भूली-बिसरी याद नहीं। बेहतर है, आँखें मूँदकर सफ़ेद भेड़ों के झुण्ड देखने की चेष्टा करूँ···उजले-उजले, सफ़ेद भेड़···सफ़ेद भेड़ों के झुण्ड। झुण्ड···किन्तु सभी उजले भेड़ अचानक काले हो गये। बार-बार आँखें खोलता हूँ, मूँदता हूँ। काले को उजला करना चाहता हूँ। भेड़ों के झुण्ड भूरे हो जाते हैं। उजले भेड़···उजले भेड़···काले भूरे··· किन्तु उजले···उजले···गेहुँए रंग के भेड़··· !

"ओई द्याखो—एसे गेछे जल !"—झकझोरकर मुझे जगाया गया।

घड़ी देखी, ठीक साढ़े पाँच बज रहे थे। सबेरा हो चुका था···आ रहलो है ! आ रहलो है पनियाँ। पानी आ गेलो। हो रामसिंगार ! हो मोहन ! हो रामचन्नर—अरे हो···

आँखें मलता हुआ उठा। पच्छिम की ओर, थाना के सामने सड़क पर मोटी डोरी की शक्ल में—मुँह में झाग-फेन लिये—पानी आ रहा है; ठीक वैसा ही जैसा शाम को कॉफ़ी हाउस के पास देखा था। पानी के साथ-साथ चलता हुआ, किलोल करता हुआ बच्चों का एक दल···उधर, पच्छिम-दक्षिण कोने पर—दिनकर अतिथिशाला से और आगे—भंगी बस्ती के पास बच्चे कूद क्यों रहे हैं ? नहीं, बच्चे नहीं, पानी है। वहाँ

मोड़ है, थोड़ा अवरोध है—इसलिए पानी उछल रहा है··· पच्छिम-उत्तर की ओर, ब्लॉक नम्बर एक के पास—पुलिस चौकी के पिछवाड़े में पानी का पहला रेला आया···ब्लॉक नम्बर चार के नीचे सेठ की दुकान के बायें बाजू में लहरें नाचने लगी।

अब मैं दौड़कर छत पर चला गया। चारों ओर शोर-कोलाहल-कलरव-चीख-पुकार और पानी का कलकल रव। लहरों का नर्त्तन। सामने फुटपाथ को पारकर अब पानी हमारे पिछवाड़े में सशक्त बहने लगा है। गोलम्बर के गोल पार्क के चारों ओर पानी नाच रहा है···आ गया, आ गया! पानी बहुत तेजी से बढ रहा है, चढ रहा है, करेण्ट कितना तेज है? सोन का पानी है। नहीं, गंगाजी का है। आ गैलो···

सामने की दीवार की ईंटें जल्दी-जल्दी डूबती जा रही हैं। बिजली के खम्भे का काला हिस्सा डूब गया। ताड़ के पेड़ का तना क्रमशः डूबता जा रहा है···डूब रहा है।

···अभी यदि मेरे पास मूवी कैमरा होता, अगर एक टेप-रेकॉर्डर होता! बाढ तो बचपन से ही देखता आया हूँ, किन्तु पानी का इस तरह आना कभी नहीं देखा। अच्छा हुआ जो रात में नहीं आया। नहीं तो भय के मारे न जाने मेरा क्या हाल होता···देखते ही देखते गोल पार्क डूब गया। हरियाली लोप हो गयी। अब हमारे चारों ओर पानी नाच रहा था···भूरे रंग के भेड़ों के झुण्ड। भेड़ दौड़ रहे हैं—भूरे भेड़। वह चायवाले की झोंपड़ी गयी, गयी, चली गयी। काश, मेरे पास एक मूवी कैमरा होता, एक टेप-रेकॉर्डर होता···तो क्या होता? अच्छा है, कुछ भी नहीं। कलम थी, वह भी चोरी चली गयी। अच्छा है, कुछ भी नहीं—मेरे पास।

अचानक सारी देह में कँपकँपी शुरू हुई। पानी के बढने की यह रफ्तार है तो पता नहीं पानी कितना बढे। वहाँ कोई बैठा थोड़ी है कि रोक देगा—अब नहीं, बस अब, हो गया। 'ग्राउण्ड-फ्लोर' में छाती-भर पानी है। इसके बाद भी यदि पानी बढता गया तो दूसरी मंजिल तक न भी आये—कण्ट्रैक्टर द्वारा निर्मित यह मकान निश्चय ही ढह जायेगा। १९६७ में पुनपुन का पानी एक सप्ताह तक झेल चुके हैं ये मकान। हर साल घनघोर वर्षा के बाद कई दिनों तक घुटने-भर पानी में डूबे रहते हैं।

ग्रौर सरज़मीन ठोस नहीं—'गार्बेज' भरकर नगर बसाया गया है···पुनपुन की बाढ़ इसके 'पासंग' बराबर भी नहीं थी। दोनों ग्रोर से तेज़ धारा गुज़र रही है। पानी चक्राकार नाच रहा है, अर्थात् दोनों ग्रोर गड्ढे गहरे हो रहे हैं···वेवस कुत्तों का सामूहिक रुदन, वहते हुए सूअर के बच्चों की चिंचियाहट, कोलाहल-कलरव-कुहराम !···हो रामसिंगार, रिक्शवा वहलौ हो। घर-घर-घर !

···कल एक पत्र गाँव भेज दिया था। किन्तु कल एक कप कॉफ़ी नहीं पी सका। कल 'दोसा' खाने को वहुत मन कर रहा था···कोक पीने की इच्छा हो रही है। कण्ठ सूख रहा है। प्रियजनों की याद ग्रा रही है।

थर-थर कांपता हुग्रा छत से उतरकर फ़्लैट में ग्राया ग्रौर ठाकुर रामकृष्ण देव के पास जाकर वैठ गया—'ठाकुर ! रक्षा करो। बचाग्रो इस शहर को···इस जलप्रलय में···'

"ग्ररे दुर साला। कांदछिस केन ?···रोता क्यों है ! वाहर देख! साले! तुम लोग थोड़ी-सी मस्ती में जव चाहो तव राह-चलते 'कमर दुलिये-दुलिये' (कमर लचकाकर, कूल्हे मटकाकर) ट्वीस्ट नाच सकते हो। रम्वा-सम्वा-हीरा-टीरा ग्रौर उलंग नृत्य कर सकते हो ग्रौर वृहत सर्वग्रासी महामत्ता रहस्यमयी प्रकृति कभी नहीं नाचेगी ?···ए-बार नाच देख! भयंकरी नाच रही है—ता-ता-थेई-थेई, ता-ता थेई-थेई। तीव्रा तीव्रवेगा शिवनर्त्तकी गीतप्रिया वाद्यरता प्रेतनृत्यपरायणा नाच रही है। जा, तू भी नाच !"

ग्रगरवत्ती जलाकर, शंख फूंकता हूं—नाचो माँ !···उलंगिनी नाचे रणरंगे, ग्रामरा नृत्य करि संगे। ता-ता थेई-थेई, ता-ता थेई-थेई···मदमत्ता मातंगिनी उलंगिनी—जी भरकर नाचो !

वाहर कलरव-कोलाहल वढ़ता ही जाता है। मोटर, ट्रक, ट्रैक्टर, स्कूटर पानी की धारा को चीरती, गरजती-गुर्राती गुज़रती हैं···सुवह सात वजे ही धूप इतनी तीखी हो गयी ? सांस लेने में कठिनाई हो रही है। सम्भवतः ऐसी घड़ी में वातावरण में ग्रॉक्सिजन की कमी हो जाती है। उमस, पसीना, कम्पन, धड़कन ? तो, क्या···तो क्या ?

ग्रव, तुमुल तरंगिनी के तरल नृत्य ग्रौर वाद्य की ध्वनियों को शब्दों

में बांधना असम्भव है! अब…अब…सिर्फ…हिल्लोल-कल्लोल-कलकल कुलकुल-छहर-छहर-झहर-झहर-झरझर-अर, र-र-र है-ए-ए धिग्रा-धिग-धातिन-धा तिनधा-आ-आ है-मैया-गे-झांय-झांरय-झय-मय-झांय झिझिना-झिझिना कललकुलल-कुलकुल-वां-आं-य-वां-आं-म-औ-ऊँ-ऊँ…चेंई-चेंई-छछना-छछना-हा-हा-हा ततथा-ततथा-कलकल-कुलकुल…!!

पानी बढ़ना रुक गया है? एँ? रुक गया है? बीस मिनट हो गये। पानी जस-का-तस, जहाँ-का-तहाँ है? कम-से-कम अभी तो रुक गया है।

…तू-ऊ-ऊ-ऊ! फिर मैंने शंखध्वनि की? नहीं। रेलवे-लाइन पर एक इंजन तार स्वर में चीख रहा है—तू-ऊ-ऊ-ऊ-ऊ!

कड़वी चाय के साथ काम्पोज़ दो टिकिया लेकर बिछावन पर लेट जाता हूँ।

जो बोले सो निहाल

आँखें मूँदे, बहुत देर तक, 'शवासन' की मुद्रा में लेटा रहा। किन्तु, शान्तिकर औषधि (ट्रैंक्विलाइजर) तथा 'आसन' का कोई सुफल नहीं हुआ। इसके विपरीत, आन्तरिक यन्त्रणा धीरे-धीरे और भी तीव्र, और गम्भीर होकर प्राण के निकटतम हो गयी। दीर्घ निःश्वास का क्रम बढ़ता गया। एक बार लगा कि अब सचमुच दम घुट जायेगा। छटपटा उठा। और, आँखें खुलते ही मोहाच्छादित !···यह क्या ? कमरे की सभी दीवारों पर, फर्श पर, सामानों पर—नीचे—ऊपर सभी ओर एक रहस्य-पूर्ण अलौकिक आलोक-जाल ! एक सचल रश्मि-धारा !!···मेरे सारे शरीर पर बेलबूटेदार सुफेद झीनी चदरी-सी यह क्या है जो सजीव है ? रोमांचित हुआ। फिर तुरत ही सबकुछ समझ गया···यह तो विश्व-प्रकृति की लीला हो रही है न ? मेरे ब्लाक के चारों ओर फैली हुई, वेगवती जलधारा पर सूर्य की प्रखर किरणें पड़ती हैं और प्रतिच्छटा प्रेक्षित होकर हमारे कमरे में इन्दरजाल फैला रही है ?···'बहुरूपी'—(बंगला नाटक-मण्डली) के आलोक-सम्पात करनेवाले उस प्रसिद्ध कलाकार का नाम अभी याद नहीं आ रहा···फिल्मवाले 'आउटडोर' में बड़े-बड़े आईने ले जाते हैं। उनको 'रिफ्लैक्टर' कहते हैं···अपने कमरे के बड़े आईने में अपने को देखकर मुस्करा पड़ा। मुँह-आँख-कान-हाथ-पैर पर वही आभा दौड़ रही थी। लग रहा था, मेरी देह कमरे के शून्य में तैर रही है। इस सम्मोहन से मुक्त होने का मन नहीं करता ··

बाहर, कोलाहल ही नहीं—किलोल, तमाशबीनों की भीड़ उमड़

मतिकाजी छोटी बाल्टी
आयी है। घुटने और कमर-भर पानी मे लड़के नहा [illegible]ग पानी बर्बाद कर जल-किलोल'''पुनपुन की बाढ के समय भी ऐसा ही मेला [illegible]

'''लो, वही जीपवाला फँसा। 'टॉप-गियर'. पर गुर्राती हुई'''को फिर अचानक बन्द हो गयी। इसके बाद 'सेल्फ़' को चालू करने की चे[illegible]ही कुछ देर 'खचचचच'''खचचचच''' ' फिर निस्तब्ध। निश्चय ही 'गियर बॉक्स' में पानी भर गया होगा। जीप के फँस जाने पर, आस-पास जल-विहार करनेवालो और जल-उत्सव देखनेवालों को बड़ी खुशी हुई। जीप के बेबस होते ही एक सम्मिलित हँसी की लहर चारों ओर फैल गयी''' पुनपुन की बाढ में हमें फँसा देखकर देखनेवालो का पहला जत्था हँसते-हँसते लोटपोट हो गया था। ऊपर की ओर अर्थात् हमारी ओर देखकर ताने देता हुआ एक छोकरा जोर-जोर से बोला था—"अच्छा! हा हा-हा-हा'''घर मे गैस का सलेंडर, पाँच मिनट में ही खाना बनानेवाला कूकर, दिन-रात चालू रेडियोग्राम, पलँग के पास मे टेलिफोन और ठण्डा पानी का फ्रीज। अब बोलो—बच्चू! कहाँ सटक गयी सारी नवाबी? एँ? ही ही ही ही!'''बैरा! साहब लोगों को टेबुल पर 'छोटी हाजिरी' दो और मेमसाहेब के वास्ते बाथरूम के टब मे साबुन का झाग'''हाहाहाहा'' ठीक हुआ है।"

जीप से उतरकर कई लोग पीछे से गाडी को धकेलने लगे तो नहाने-वाले लड़कों की टोली मदद करने आ गयी—"अरे साहब, आगे धकेलकर कहाँ ले जाइएगा? पीछे की ओर ठेलकर वापस कीजिए।" कुछ लड़के सामने से धकेलने लगे—"मार जवानो—हइयो!" कुछ पीछे से ठेलते रहे —"मार जवानो—हइयो!" गाडी एक गड्ढे से निकलकर दूसरे में फँस गयी। लड़के खुश होकर नहाने लगे'''

रिक्शावालो का साहस और उत्साह दुगुना हो गया है। तेज धारा के बावजूद, कमर-भर पानी मे नीचे उतरकर रिक्शा को खींच रहे है। 'जलकेलि' करनेवाले लड़के हर रिक्शावाले को बिना माँगे मदद दे रहे हैं। रिक्शा को पीछे से ठेलकर पार करवा रहे हैं—"हैइ—यो—यो है-है-है।" बीच-बीच मे ट्रैक्टर और ट्रक अपनी सारी ताकत लगाकर पानी को चीरते हुए निकल जाते हैं। पानी मे हिलकोरे और गोलम्बर के आकाश

ड़कियों से देखता हूँ और कभी पूरव के वरा
ला विल्डिग है। उस मकान की जब नीं
ी बाढ़ आ गयी थी। चारों ओर इकट्ठी की
ी ढेरी पर राह के कुत्तों ने शरण ली थी। पानी
ान का काम शुरू हुआ तभी समझा था कि मकान
प्लान पर फिर से विचार कर आवश्यक सुधार
बार जब कि आसपास के मकानों के 'ग्राउण्ड फ्लोर'
भर पानी में हैं, इस विल्डिग के अहाते में चार-पांच
इंच-भर पानी है। मकान की पहली सीढ़ी भी पानी से बाहर है…और संयोग की बात : एक सप्ताह पहले इसके सामनेवाले मैदान में नये मकान की नींव डाली गयी और सोन का पानी आ गया! हमारे ब्लाक के बायें बाजू में—पटना इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के कई नये ब्लाक बनकर अभी-अभी तैयार हुए हैं—कटि-स्नान कर रहे हैं।

"ए कि? जल चले गेछे? कले जल नेई? वड्डो मुश्किल'—निष्प्राण 'हैण्डपम्प' के हैण्डिल को चलाती हुई लतिकाजी बोलीं।

"किन्तु, पुनपुन की बाढ़ के समय तो कभी पानी बन्द नहीं हुआ?" मैंने गम्भीरतापूर्वक कहा।

"अरे दुर तोमार… पुनपुन की बाढ़ की बात। मैं पूछ रही हूँ कि अब क्या होगा?…देखूं, टोमैटो की माँ के कल में है या वहाँ भी…" बड़बड़ाती हुई, हाथ में छोटी बाल्टी लेकर छत के रास्ते वह चली गयी।

महा-मुश्किल! मैंने पम्प के हैण्डिल को चलाकर देखा—एकदम बेजान नहीं। भरोसा है थोड़ा…राजेन्द्रनगर के इलाके में ऊपर के तल्लों में पानी की किल्लत हमेशा रहती है। प्रेशर कम रहता है। बहुत दिनों तक कष्ट झेलने के बाद, तीन साल पहले हमने सड़क के किनारे 'अण्डर-ग्राउण्ड मेन लाइन' में डेढ़ सौ फीट 'पाइप' जुड़वाकर हैण्डपम्प लगवाया। गाँव के ट्यूववेल का पानी जब सूख जाता है—हम ऊपर से पानी डालकर उसको पुनर्जीवित करते हैं। यहाँ भी वही करना होगा। घड़े से एक 'मग' पानी लिया, पम्प की थुथनी (नोज़ल) को ऊपर की ओर करके पानी

डाल दिया, फिर हैण्डिल चलाने लगा। तबतक लतिकाजी छोटी बाल्टी मे पानी लेकर पहुँची और मुझ पर बरस पड़ी। "एक मग पानी बर्बाद कर दिया न! मुन्नी की माँ के फ्लैट से पानी ला रही हूँ।"

वह घड़े में पानी डालकर फिर बाहर गयी तो मैंने हैंडपम्प को फिर एक 'मग' पानी पिलाया और हैण्डिल चलाने लगा। वह उल्टे-पाँव दौड़ी आयीं, "तुम समझते क्यों नही? फिर एक मग पानी बर्बाद किया न? जरा बुद्धि से भी तो काम लिया करो। जब 'मेन पाइप' मे ही पानी नही तो···मिछे मिछे···बेकार पानी डालकर···"

तब तक पम्प मे जान आ गयी थी। पम्प की उल्टी हुई थुथनी से पानी का फव्वारा निकला और मैं भीग गया। पुरुषार्थ-भरे स्वर मे कहा, "बुद्धि से ही काम लेकर तो अब तक जी रहा हूँ, श्रीमती जी। लीजिए, घर में जितने भी बर्तन हैं—पात्र-अपात्र-कुपात्र—सबमें पानी स्टोर कर लीजिए। श्रीकृष्णपुरी की ओर न पानी है, न बिजली। इधर भी, जब तक है—है···"

"सुना है, स्टेशन भी डूब गया है। गाड़ी बन्द···"

मैं कहता हूँ, "अरे, स्टेशन क्या डूबा होगा—रेलवे लाइन पर पानी आ गया होगा। लेकिन, यह खबर कौन ले आया?"

टोमैटो, गांधी और बालाजी वगैरह घर मे बन्द रहनेवाले लड़के थोड़े हैं! सब निकलकर गया था। सुनछि, एयरोड्रमओ डूबे गेछे।"

और, स्टीमर सर्विस तो दो दिन पहले से ही बन्द है···जल-थल-नभ सभी मार्ग बन्द!

छत पर गया। ब्लाक के सभी—बत्तीसों फ्लैट के लोग छत पर जमा थे। गंगा नही, सोन का पानी है। "गंगा अचानक डेढ़ हाथ नीचे चली गयी···गंगा मैया की कृपा···नही तो, अब तक पटना का नाम-निशान तक नहीं रहता। पुनपुन का क्या हाल है भाई?···पानी कहाँ-कहाँ है और कहाँ-कहाँ नही है?···पश्चिमी पटना तो समझिए कि एकदम 'डुबिये' गया है, इधर स्टेशन, गांधी मैदान, कदमकुआँ, पीरमुहानी, नाला रोड, लोहानीपुर, मन्दीरी—सब जगह कमर से लेकर छाती-भर पानी है। मन्दीरी की हालत सबसे बदतर है। अथाह पानी है वहाँ। नही, अशोक

राजपथ पर एक बूंद भी पानी नहीं है···धूप इतनी तेज़ है तो पानी जरूर घटेगा···आपके कल में पानी आ रहा है न ? देखिए, पानी-बिजली कब तक चालू रहे···अब तक कोई नाव नहीं, आयी। नाव नहीं स्टीमर आयेगा आपके लिए···पानी स्टोर कर रहे हैं न ?···खाना क्या है, बस खिचड़ी पका लो और आलू का भुर्ता। बस···वह देखिए—पीपे की नाव बनाकर आ रहे हैं, कुछ लोग।"

सभी नीचे की ओर देखते हैं। नीचे मेला और रेला बढ़ता ही जा रहा है। पता नहीं, इन लड़कों को मोटर का ट्यूब कहां से इतना मिल गया है ?···मिलेगा कहां से ? सड़क पर जितनी फँसी गाड़ियां लावारिस पड़ी हुई हैं, सभी के टायर-ट्यूब निकालकर ला रहे हैं।

तैरना, पानी उलीचना और बीच-बीच में ब्लाक के किसी फ़्लैट की खिड़की की ओर देखकर फिकरे कसना—सबकुछ पूर्ववत् चल रहा है··· ऊपर, एक हवाई जहाज मँडरा गया···अरे, ऊपर से क्या देख रहे हो, ज़रा नीचे उतर आओ भाई···शायद, हवाई फोटो ले रहा है ··अरे भाई, फोटो लेकर क्या करेगा ? सभी अखबारों के मशीनघर में पानी घरघरा रहा है ···पता नहीं, क्या हो, पानी बढ़ सकता है···पानी बढ़ा है···हां, देखिए— पानी फिर बढ़ रहा है ? ऍं ? पानी फिर बढ़ने लगा। अब खैर नहीं···

फ़्लैट में आकर रेडियो ट्यून किया। सुबह से ही फतुहा-ट्रांसमिशन सेंटर से प्रोग्राम प्रसारित किया जा रहा है···आवाज़ किसी पेशेवर 'अना-उंसर' की नहीं। शायद, वहां के दरवान या इंजीनियरिंग-सेक्शन के किसी कर्मचारी की आवाज़···सीधे और सपाट ढंग से वह बीच-बीच में सूचना देता है कि छज्जू बाग के मुख्य स्टुडियो में पानी आ जाने के कारण फतुहा से प्रोग्राम हो रहा है···अब आप एक कव्वाली का रिकार्ड सुनिए। सितार बजने लगता है तो रिकार्ड रोककर कहता है—सुनिए, कव्वाली नहीं, यह सितार का रिकार्ड है···अब आप हमारा दिल्ली का समाचार सुनिए···

प्रारम्भ की दो पंक्तियां डूब गयीं···"अब आप पूरे समाचार सुनिए। पटना की बाढ़ की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। पिछले अठारह घण्टे से पटना का सम्पर्क देश के शेष भागों से कटा हुआ है। दूरसंचार के सभी साधन भंग हो गये हैं, गाड़ियों का आना-जाना बन्द है क्योंकि

पटना जंकशन रेलवे स्टेशन की रेल की पटरियाँ पानी में डूब गयी हैं। आज एयर इण्डिया का विमान पटना हवाई अड्डे पर नहीं उतर सका···

"अब आप फिल्मी गीत सुनिए···हम तुम कमरे में बन्द हों और चाबी खो जाये···"

···अनाउंसर पेशेवर नहीं हो। लेकिन, रिकार्ड उसने चुनकर लगाया है।

रेडियो से—पटना का देश के शेष भागों से सम्पर्क कट जाने की बात सुनने के बाद मेरे अन्दर का 'मैं' कातर हो उठा। ऐसा लगा कि एक द्वीप पर अकेला बैठा हुआ हूँ। चारों ओर समुद्र लहरा रहा है। कहीं किसी जहाज का मस्तूल या किसी नाव का पाल नहीं दिखलायी पड़ रहा···

न जाने कब नींद आ गयी। जगा तो दिन के चार बज रहे थे। हर दस मिनट पर पश्चिम की खिड़कियों पर जा खड़ा होना, फिर पूरब के बरामदे पर आकर बाहर देखना—नियम-सा बन गया है, हर बार बिजली के खम्भे पर, सामने की नंगी दीवार की ईंटों पर और ताड़ के तने पर निगाह डालकर देखना कि पानी घटा है या बढ़ रहा है। सो, जागते ही खिड़कियों के सामने जाकर खड़ा हो गया। भीड़ में अपने किसी भी परिचित का चेहरा ढूँढ रहा हूँ। नहीं, इस भीड़ में कहीं भी कोई अपना परिचित नहीं···भीड़-प्रिय आदमी कभी किसी का अपना नहीं होता···वह व्यक्ति अपने परिवार के कनिष्ठतम प्राणी के साथ बाढ़ का मेला देखने आया है। परिवार के सभी सदस्य रंग-बिरंगी पोशाक पहने हुए हैं। औरतें और लड़कियाँ सजी-धजी हुई हैं। बंगला में इसी को 'हुजुग' कहते हैं। इस हुजुग को, मेला देखनेवाली भीड़ को, देखकर बाढ़ के पानी में डूब मरने को जी करता है···

छत पर आने का मन नहीं करता। यहाँ ऐसी-ऐसी बातें सुनने को मिलती हैं कि दिल डूबने लगता है और कभी खून गर्म हो जाता है···और कम उम्र की अल्हड़-सी लड़कियों की तरह अधेड़ औरतें बचकानी बातें करने लगती हैं तब। असल में, मैं ही सठिया गया हूँ।

···अच्छा, बतलाइए तो, सोन बढ़ रहा है या बढ़ रही शुद्ध है?··· मुस्कुराहट···नदी तो स्त्रीलिंग है, इसलिए सोन बढ़ रही···खिलखिलाहट

आप भी कैसे 'कवी' हैं जी ? जानते नहीं, सोन तो मर्द है । नदी नहीं, नद है। समझे ? तभी तो राजधानी में घुस आया है···ही ही ही ही ! आपने दाढ़ी रख ली, इसीलिए बाढ़ आ गयी। कटा लीजिए, पानी घट जायेगा ! ···हा हा हा ! ···

एक भाई साहब हैं जो कभी भी किसी मौके पर कोई ऐसी बात नहीं करते जिसे सुनकर मन में कोई उत्साह या आनन्द अथवा राहत मिले। आज दिन-भर अपने फ़्लैट में पता नहीं हथौड़े से क्या ठक-ठककर ठोंकते रहे और अभी छत पर एकत्रित प्राणियों (जिनमें 'फेमनिन' की संख्या ही गरिष्ठ है) के बीच आकर 'ठकाठक' कई कठोर खबरें ठोंक गये—"पुनपुन के तटबन्ध में भी 'ब्रीच' हो गया है···इधर गंगा का पानी फिर बढ़ने लगा है···और, और सचिवालय के पास स्टीमर आ गया है और सारे कागजात को सुरक्षित···"

खिलखिलाकर हँसनेवालियों के चेहरे एक ही साथ बुझ गये—मानो बिजली गुल हो गयी—हाय राम ! तब तो समझिए कि प्रलय···

भाई साहब कल से ही जिस बात को हज़ार बार कह चुके हैं उसी को फिर, अपनी खल्वाट खोपड़ी पर हाथ फेरते हुए, कहते हैं—"भगवान बुद्धा ने कहा था कि इस शहर को तीन बातों से हमेशा खतरा रहेगा···"

हज़ार बार सुनकर भी हर प्राणी की उत्सुकता नहीं मिटती—"कौन-कौन-सी तीन चीज़···?"

मैं पूछना चाहता था कि सचिवालय के पास स्टीमर आ जाने की ख़बर भाई साहब को कहाँ से मिली। वे मौर्य-युग में पहुँचे हुए थे, अतः चुपचाप नीचे अपने कमरे में चला आया।

अब सूरज की लाली बाढ़ के गँदले जल में घुल रही है। ऐसा दृश्य—अर्थात् बाढ़ के जल पर डूबते हुए सूरज की किरणों को रंगीन लकीरें खींचते बहुत बार देखा है, मैं उस अँधियारी की प्रतीक्षा में हूँ—जो आज रात इस नगर में छानेवाली है···पानी घटा नहीं है। भीड़ बढ़ गयी है। कोलाहल में कोई कमी नहीं।

···आज साढ़े सात बजे प्रसारित होनेवाला प्रादेशिक समाचार नहीं प्रसारित हुआ। कव्वाली, फ़िल्मी गीत, तबला, वायलिन और सितार के

घिसे-कटे रिकार्ड बजते रहे···प्रादेशिक समाचार नहीं प्रसारित हुआ तो क्या बिगड़ गया ? प्रसारित ही होता तो क्या बन जाता ? बाढ़ का पानी घट जाता ? कोई राहत मिल जाती ?···मैंने एक बार लगातार तीन महीने तक अपने गाँव में बिना अख़बार पढ़कर और बिना रेडियो सुनकर अनुभव किया है। कोई फ़र्क नहीं पड़ता। बल्कि एक पुराना रोग (कब्ज़ियत) दूर हो गया था···

पानी की धारा पर बहुत देर तक निगाहें गड़ाकर देखते रहने से एक आनन्ददायक भ्रम होने लगता है। सारा मकान स्टीमर की तरह तैरता हुआ-सा लगता है···उधर, पूरब की ओर कुछ हुआ, शायद, लड़के उधर दौड़ क्यों रहे हैं, एक साथ ? नाव आ रही है। हाँ, नाव ही है। नाव पर सात-आठ सरदारजी और कई गैर-सरदार बैठे हैं। किसी भी सिख को देखते ही मेरे मन के अन्दर यह अभिवादन 'भक्तिभाव' से गूँजने लगता है—'जो बोले सो निहाल—सत सिरी अकाल !'

सरदार जी लोगों का दल जलविहार करने नहीं, रिलीफ बाँटने आया है। सामनेवाले पंचमंज़िला इमारत के मुँडेर पर पनाह लेनेवालों को वे बुला रहे हैं—"नीचे आओ !"

हमारे ब्लाक के बायें जो मकान बनकर तैयार हुए हैं, उनमें अब तक चालीस-पचास बाढ़पीड़ित परिवार आकर डेरा डाल चुके थे—रिक्शा-वाले, खोमचावाले, रद्दी कागज-शीशी-बोतल खरीदनेवाले। सभी रोटियाँ लेने उतरे। सरदार स्वयंसेवकों ने चिल्लाकर कहा—"पानी में मत उतरो। हम वहीं आ रहे हैं।"

नाव हमारे फ़्लैट के नीचे से गुज़री। नीचे वाले फ़्लैट से किसी ने पूछा, "क्या दे रहे हैं ?"

"रोटी, सब्ज़ी और घुघनी। और पीने का पानी भी। रोटी बहुत अच्छी है, गर्म है···बढ़िया आटे की है। क्यों, चाहिए क्या है ?" स्वयं-सेवक सरदारजी ने एक रोटी निकालकर दिखलाते हुए कहा। फिर पूछा —"आप लोगों की छत पर पनाहगुज़ीं कोई नहीं···"

इसके बाद नाव को घेरकर भूखे-प्यासे लोग अपने बाल-बच्चों के साथ रोटियाँ लेते रहे और शोर मचाते रहे···रिलीफ देनेवालों की यह पहली

टोली थी···दिन-भर के भूखे-प्यासे प्राणियों को तृप्तिपूर्वक भोजन करते हुए, घूंट-घूंटकर पानी पीते हुए देखकर रोम-रोम पुलकित हो उठा। जोर से पुकार उठा, "जो बोले सो निहाल—सत सिरी अकाल !" और—नाव पर बैठे स्वयंसेवकों ने मेरे इस हार्दिक अभिनन्दन को स्वीकार करते हुए एक साथ 'सत सिरी अकाल' कहा। फिर पूछा, "कुछ चाहिए ? रोटी-पाणी ?"

मैंने कहा, "उधर, कम्युनिटी हाल···दिनकर अतिथिशाला में, और उसके पच्छिम की ओर जाइए, वहाँ बहुत लोग हैं···"

"हाँ-जी, उधर हमारी एक नाव गयी हुई है।"

···बिजली आ गयी है। जल-थल आलोकित हो गया है। पुनपुन की बाढ़ के समय, पानी की धारा पर बिजली के लट्टुओं और मर्करी-ट्यूब का जैसा आलोक-नृत्य देखा था—वैसा ही दृश्य···किन्तु, सारा पश्चिमी पटना घोर अन्धकार में डूबा होगा।

···दिल्ली से रेडियो पर कहा जा रहा है—पटना के लोग मौत से जूझ रहे हैं।

कमरे के कोने से ठाकुर रामकृष्ण देव बोले—"की रे ? सारा दिने ···दिन-भर में तीन बार ठूंसकर खाया है ? दिन-भर सिगरेट फूंकता रहा, चाय पीता रहा। यही है तुम्हारा मौत से जूझना ?···घर से बाहर निकलता क्यों नहीं ? आश्रम के स्वयंसेवकों के साथ दुखियों की सेवा करने क्यों नहीं आता ? उस बार तो खूब उत्साह के साथ गया था। क्या हुआ इस बार ?"

"ठाकुर ! तुम तो जानते हो। मैंने कसम खायी है, बाढ़-पीड़ितों की सेवा करने के लिए अब नहीं जाऊँगा।"

"एई तोमार तीसरी कसम ?"

लतिकाजी भींगी साड़ी में लथपथ लिपटी हुई आयीं और बाथरूम की ओर जाती हुई बोलीं, "ओदेर···उन्हें खिला आयी।"

मैंने कुछ भी नहीं समझा। वह स्नान करके, कपड़े बदलकर आयीं। पूछा, "ओदेर माने ?"

"ओई बेचारा कुकुरदेर···बेचारे कुत्ते। एक ने चायवाले की झोंपड़ी

को 'आस्ताना' (बसेरा) किया है। दूसरा—वहाँ ईंटों की ढेरी पर है और तीसरा तीन नम्बर ब्लाक की एक खाली दुकान के रैक पर बैठा है। रोटी दे आयी हूँ और, उस चायवाले को देखो। मुझे रोटी खिलाते देखकर दौड़ा आया और लाठी से बेचारे को कोंचने लगा। कहने लगा, मेरा छप्पर नोंचकर बर्बाद कर देगा।"

"भगा दिया ?"

"नहीं। अपने ब्लाक के लड़के सब नीचे थे। उन्होंने कहा, कुत्ते को अगर भगाया तो तुम्हारी झोपड़ी कल बह जायेगी।"

बाहर बिजली चमकी। पूरब और दक्षिण की ओर आकाश में काले मेघ उमड़ आये हैं। उमस से देह चिपचिपा रही है। बाहर 'आवाजाही' अब तक बन्द नहीं हुई है। भीड़ नहीं है। किन्तु, लोग आज भी साढ़े ग्यारह बजे तक चल रहे हैं। हर आदमी के हाथ में एक लाठी—दूसरे में झोली, बोतल या डालडा का डिब्बा अथवा गठरी···सचमुच, मौत से ही जूझ रहे हैं। पानी में भँसता हुआ डेढ़ बित्ते का कोई कीड़ा डंक मार दे और एक घण्टा में ही सब समाप्त···दीवार गिर पड़े और खेल खत्म···फिर कहीं कोई तटबन्ध टूट जाये अथवा गंगाजी का कोप बढ़ जाये और चारों ओर पानी की एक उठती हुई ऊँची दीवार के साथ पटाक्षेप।

अब बिजली की प्रत्येक कौंध के तुरन्त बाद ही मेघ गरज उठता है। इसका मतलब है कि बादल अब पटना के आकाश पर छा गया। बाहर निकलकर देखा और मुँह से सहसा निकल पड़ा—"तुम्हीं क्यों बाकी रहोगे आस्माँ···ज़रा बाहर आकर देखो इन बादलों को ··की भीषण···"

एक कुत्ते ने रोना शुरू किया। किन्तु, कल के रुदन से आज का रोना भिन्न है। कल वे आशंका और आतंक को सूँघ रहे थे और, आज मौत को बहुत करीब देखकर रो रहे हैं···मुझे फिर टेप-रिकार्डर की ज़रूरत··· असल में इस रुदन को जिसने सुना है, वही समझ सकते हैं—'ओ-य-य-हूँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ-हों-हों-हों-य-ह···हूँ-ओं-आ-आ···"

आज उन्हें डाँटकर कोई चुप नहीं कर रहा। इसलिए वे सम्मिलित सुर में रह-रहकर रो रहे हैं! उनकी करुण पुकार में कोई बाधा नहीं पड़ती।

···कुत्तों को चुप किया, तेज़ हवा के पहले झोंके ने। हवा तेज़ हो गयी। बिजली जल्दी-जल्दी कौंधने लगी—कड़ककर टूटने लगी। एक बार तो लगा, आस्मान चरचराकर फट ही गया। हवा नहीं, यह तूफ़ान है। आंधी आ गयी ? सभी फ़्लैटों की खुली हुई खिड़कियों और दरवाज़े के पल्ले काठ के पंख की तरह फड़फड़ाने-घड़घड़ाने लगे। धड़ाधड़ खिड़कियाँ बन्द होने लगीं। अब, हवा के साथ मूसलाधार वृष्टि ! घनघोर वर्षा··· पास ही किसी मकान में कोई भयातुर आत्मा 'अजान' देने लगी—"अल्ला-हो अ-क-ब-र···"

पुनपुन की बाढ़ को न्योतकर ले आनेवाली, अट्ठारह-बीस घण्टे तक अविराम होनेवाली वर्षा की याद आयी···उस बार मुंगेर के किसी इलाके में बादल टूटकर (बर्स्ट) गिरा था और पाँच मिनट में ही कई गाँव पानी के अतल तल में समा गये थे···सब-कुछ सम्भव है।

···उन लोगों पर अभी क्या बीत रही होगी जो छतों पर, खुले आसमान के नीचे हैं ?

···अब जो दृश्य उपस्थित हो रहा है, होता जा रहा है, उसे देखने का साहस नहीं बटोर पा रहा हूँ। विश्व-प्रकृति का यह उन्मत्त नृत्य, अब इस शहर को डुबाकर ही बन्द होगा···ॐ नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय···त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं···भयानां भयं भीषणं भीषणानां···परेषां परंरक्षणं-रक्षणानां···तदेकैस्मरामस्तदेकंजपा···भवांभोधिपोतं शरण्यं व्रजामः···!!!

संसार-सागर से उबारनेवाले एकमात्र 'पोत' को सुमिरता हुआ, रक्षकों के भी रक्षक की शरण गहता बाहर की ओर देख रहा हूँ। पानी बढ़ता जा रहा है। लेकिन, अब डर नहीं लग रहा। अब काहे का डर ?··· दिन में सूअर के बच्चे जिस तरह डूबते-बहते हुए मर रहे थे, उसी तरह मरने को तैयार हूँ। किन्तु, चिचियाऊँगा नहीं उनकी तरह। मृत्यु की वन्दना गाता हुआ मरूँगा···तैंतीस-छत्तीस साल पहले का एक गीत (रवि ठाकुर के प्रसिद्ध गीत का हिन्दी-अनुवाद और सुन्दर अनुवाद !)—'कंगन' फ़िल्म का पुराना गीत गुनगुनाने लगता हूँ। फिर, बाहर की घनघोर वर्षा के ताल पर, जोर से—गला खोलकर गाना शुरू कर देता हूँ—"मरण रे-ए-ए-ए तुँहु मम श्याम समा-आ-आ-न ···घोर घटा का मोर-मुकुट धर धर

बिजली की मुरली अधर पर···गा दे अमृत···गा-आ-आ-आ-न···मरण रे-ए-ए-ए···"

दस मिनट बरसकर बादल छँट गये। हर फ़्लैट की खिड़कियाँ फिर खुल गयीं। आसमान साफ़ हो गया···पटना एक बार फिर बच गया।

बाहर झाँककर देखा—कई लोग जाल फेंककर मछलियाँ पकड़ रहे हैं।

पंछी की लाश

वर्षा के बाद वातावरण का ताप कम हुआ। किन्तु, बिछावन पर लेटते ही बाढ़ की स्मृतियाँ—'नास्टेल्जिया' की तरह फिर लौटकर आने लगीं और मन पसीजने लगा···ऐसा क्यों होता है ? इसके मूल में क्या है ?··· बहुत देर तक आत्मविश्लेषण करता रहा।

बचपन से 'बाढ़' शब्द सुनते ही विगलित होने और बाढ़-पीड़ित क्षेत्रों में जाकर काम करने की अदम्य प्रवृत्ति के पीछे—'सावन-भादों' नामक एक करुण ग्राम्य गीत है, जिसे मेरी बड़ी बहिन अपनी सहेलियों के साथ सावन-भादो के महीने में गाया करती थी। आषाढ़ चढ़ते ही—ससुराल में नयी बसनेवाली बेटी को नैहर बुला लिया जाता है। मेरा अनुमान है कि सारे उत्तर बिहार में नव-विवाहिता बेटियों को 'सावन-भादों' के समय नैहर से बुलावा आ जाता है···और जिसको कोई लिवाने नहीं जाता, वह बेचारी दिन-भर वर्षा के पानी-कीचड़ में भीगती हुई गृहकार्य सम्पन्न करने के बाद रात-भर नैहर की याद में आँसुओं की वर्षा में भीगती रहती है। 'सावन-भादों' गीत में ऐसी ही, ससुराल में नयी बसनेवाली कन्या की करुण कहानी है :

"कासी फूटल कसामल रे दैबा
बाबा मोरा सुधियो न लेल,
बाबा भेल निरमोहिया रे दैबा
भैया के भेजियो न देल,
भैया भेल कचहरिया रे दैबा
भउजी बिसरि कइसे गेल···?"

(अब तो चारो ओर कास भी फूल गये यानी वर्षा का मौसम बीतने को है। पिछली बार तो बाबा खुद आये थे। इस बार बाबा ने सुधि नही ली। बाबा अब निर्मोही हो गये हैं। भैया को 'जमीन-जगह' के मामले में हमेशा कचहरी में रहना पड़ता है। लेकिन, मेरी प्यारी भाभी मुझे कैसे भूल गयी?)

भाभी भूली नही थी, उसने अपने पति को ताने देकर बुलाने के लिए भेजा। भाई अपनी बहिन को लिवाने गया…इसके बाद गीत की धुन बदल जाती है। कल तक रोनेवाली बहुरिया प्रसन्न होकर ननदो और सहेलियों से कहती है :

हाँ रे सुन सखिया! सावन-भादव केर उमडल नदिया
भया अइले बहिनी बोलावे ले—सुन सखिया…"

ओ ननद-सखी! सावन-भादों को नदी उमड़ी हुई है। फिर भी मेरे भैया मुझे बुलाने आये हैं। तुम जरा सासजी से पैरवी कर दो कि मुझे जल्दी विदा कर दें…सास कहती है, मैं नही जानती अपने ससुर से कहो। ससुर ताने देकर कहता है कि नदी वाले इलाके में बेटी की शादी के बाद दहेज में नाव क्यों नहीं दिया। अन्त मे, पतिदेव कुछ शर्तों के साथ विदा करने को राजी होते हैं। ससुराल की दुखिया-दुलहिन हँसी-खुशी से भाई के साथ मायके की ओर विदा होती है। लेकिन, नदी के घाट पर आकर देखा—कही कोई नाव नही। अब क्या करें! भाई ने हिम्मत से काम लिया। कास-कुश काटकर, मूंज की डोरी बनाकर और केले के पौधों के तने का एक 'बेड़ा' बनाया और उस पर सवार होकर भाई-बहिन उमड़ी हुई कोशी की धारा को पार करने लगे। किन्तु, बीच नदी मे पहुँचते ही लहरें तेज हो गयीं। बेड़ा डगमग करने लगा। और, आखिर :

"कटि गेल कासी-कुशी छितरी गेल थम्हवा
खुलि गेल मूँज केर डोरिया—रे सुन सखिया!
…बीचहि नादिया में अइले हिलोरवा
छुटि गेलै भैया केर बहियाँ—रे सुन सखिया!
…डूबी गेलै भैया केर बेड़वा—रे सुन सखिया!।"

(नदी की उत्ताल तरंगों और घूर्णिचक्र में फँसकर बेड़ा टूट गया। भाई का हाथ छूट गया। और, भाई का बेड़ा डूब गया। भाई ने तैरकर बहिन को बचाने की चेष्टा की, किन्तु, तेज़ धारा में असफल रहा। डूबती हुई बहिन ने अपना अन्तिम सन्देशा दिया—माँ के नाम, बाप के नाम··· फिर किसी बेटी को सावन-भादों के समय नैहर बुलाने में कभी कोई देरी नहीं करे। और, देरी हो जाये तो जमुना का पेड़ कटवाकर नाव बनवाये, और तभी लड़की को लिवाने भेजे !)

···तकिये का गिलाफ़ भीग गया। गीत की पंक्तियाँ मन में गूँजती रहीं और आँखें बरसती रहीं। ऐसा हमेशा हुआ है।

···और, इस गीत के साथ पिछले कई वर्षों से एक और करुण गीत-कथा की कहानी जुड़ गयी है। इसलिए, इस गीत का दर्द दूना हो गया है···'तीसरी क़सम' की शूटिंग के दिनों शैलेन्द्रजी मुझसे 'महुआ घटवारिन' की 'ऑरिजिनल' गीत-कथा सुनना चाहते थे ताकि उसके आधार पर गीत लिख सकें। एक दिन हम 'पवई-लेक' के किनारे एक पेड़ के नीचे जाकर बैठे। 'महुआ-घटवारिन' का गीत मुझे पूरा याद नहीं था। इसलिए मैंने एक छोटी-सी भूमिका के साथ 'सावन-भादों' का गीत अपनी भोंडी और मोटी आवाज़ में, भरे गले से सुना दिया। गीत शुरू होते ही शैलेन्द्र की बड़ी-बड़ी आँखें छलछला आयीं और गीत समाप्त होते-होते फूट-फूटकर रोने लगे। गीत गाते समय ही मेरे मन के बांध में दरारें पड़ चुकी थीं। शैलेन्द्र के आँसुओं ने उसे एकदम तोड़ दिया। हम दोनों गले लगकर रोने लगे। 'ननुआँ' (शैलेन्द्र का ड्राइवर) टिफिन कैरियर में घर से हमारा दोपहर का भोजन लेकर लौट चुका था। हम दोनों को इस अवस्था में देखकर वह चुपचाप एक पेड़ के पास ठिठककर बहुत देर तक खड़ा रहा··· इस घटना के कई दिन बाद, शैलेन्द्र के 'रिमझिम' में पहुँचा। वे तपाक से बोले— चलिए, उस कमरे में चलें। आपको एक चीज सुनाऊँ।"

हम उनके शीतताप-नियन्त्रित कमरे में गये। उन्होंने मशीन पर 'टेप' लगाया। बोले—'आज ही 'टेक' हुआ है। "मैंने पूछा—'तीसरी कसम?" बोले—'नहीं भाई ! 'तीसरी कसम' का टेक होता तो आपको नहीं ले जाता ?···यह 'बन्दिनी' का है···पहले, सुनिए तो···!"

रेकार्ड शुरू हुआ—"अब के बरस भेज मैया को बाबुल सावन में लीजो बुलाय रे···अमुआं तले फिर से झूले पड़ेंगे···कसके रे जियरा छलके नयनवां···बैरन जवानी ने छीने खिलौने·· बाबुलजी मैं तेरे नाज़ों की पाली···बीते रे जुग कोई चिट्ठियो ना पाती, ना कोई नैहर से आये रे-ए-ए।"

कमरे में 'पवई-लेक' के किनारेवाले दृश्य से भी मर्मान्तक दृश्य उपस्थित हो गया। हम दोनों हिचकियाँ ले-लेकर रो रहे थे—आँसू से तर-बतर···शैली ने (तब बाण्टू यानी हेमन्त!) किसी काम से अथवा गीत सुनने के लिए कमरे का दरवाज़ा खोला और हमारी अवस्था देखकर पहले कई क्षणों तक अवाक् रहा। फिर कमरे से चुपचाप बाहर चला गया··· कमरे में बार-बार वही रेकार्ड बजता रहा और न जाने कब तक बजता रहता यदि शकुनजी आकर मशीन बन्द नहीं कर देतीं।

भीगे हुए तकिये पर तौलिया रखकर लेट गया। जी-भर रो लेने के बाद जी हल्का हो गया था। दृश्य पर प्रशान्ति छा गयी थी···मीठी नींद आ गयी।

भोर को एक सुन्दर अपूर्व सपना देख रहा था। और सपने में भी आनन्दातिरेक से रो रहा था···लतिकाजी ने झकझोरकर जगाया—"ऐ? ऐ? की हयेछे?···क्या हुआ?"

जगकर मन खीझ उठा···इतना सुन्दर सपना बीच में ही टूट गया··· मुझे क्यों जगाया···मैं नींद में रोऊँ या हँसूँ—इससे किसीका क्या बिगड़ जाता है?···आह!

लतिकाजी बोलीं—"ऐसे में कभी-कभी आदमी का दम घुट जाता है।

"घुट जाता तो घुट जाता···"

···दरवाज़े की कुण्डी खटखटायी। जाकर दरवाज़ा खोला तो सामने हँसते हुए शैलेन्द्र खड़े थे। उनके साथ में थे, उनके एक प्रिय-स्वजन, पटना के प्रियदर्शन डाक्टर भोला। मैं अचरज में गूँगा हो गया। उनसे कुछ पूछना चाहता था। लेकिन, मुँह से बोली ही नहीं निकल रही थी। शैलेन्द्र बोल रहे थे—"आना ही पड़ा···बेबी और गोपा के लिए योग्य

'पात्रों' को देखने के लिए। अकेला वाण्टू और काका वेचारे क्या करें?··· अपनी प्यारी वेटियों के लिए मुझे आना पड़ा—ऐसे दुर्दिन में भी भला कोई आता है?···वावुलजी मैं तेरे नाजों की पाली, फिर क्यों हुई पराई—यह सुनकर कौन ऐसा वाप है जो···वाण्टू को कवीर, दादू और रैदास पढ़ने को कहता था। पता नहीं, उसने पढ़ा या नहीं···इधर उसने एक बड़ा ही प्यारा गीत लिखा है। एल. पी. में आ गया है। सुनिए न···"

क्या सुनूं? सपने का संसार ही समाप्त हो गया। अव जगकर, अवसन्न अवस्था में सुन रहा हूँ—फतुहा से वचता हुआ—'नात-कव्वाली-गजल-ठुमरी-सितार' का रेकार्ड!

जग गया। परन्तु, सपने से इस तरह अभिभूत रहा कि वहुत देर तक 'जलप्रलय' को भूल गया। चाय पीता हुआ वहुत देर तक सपने में अचानक आ गये शैलेन्द्र के अभियोग और उलाहने-भरे शब्दों पर विचार करता रहा···सचमुच, हम सभी कितने स्वार्थी सिद्ध हुए?

पच्छिम की खिड़की से झांककर देखा—करेण्ट की गति थोड़ी मन्द पड़ गयी। कलवाला 'रिद्म' नहीं है···वह···वहाँ सफेद-सी कोई चीज़ 'भँसती' हुई चली आ रही है···खरगोश या विलायती चूहा या कोई चिड़िया?···मुर्गी है—सफेद मुर्गी! पानी की धारा के साथ हिलकोरे खाती हुई पूरव की ओर सड़क की मुख्य खरस्रोता धारा में पहुंची और वहाँ से तेज़ रफ़्तार में वहने लगी···कल पानी के साथ हवाई चप्पल, वच्चों के खिलौने, कंघी, सायकिल का वास्केट, प्लास्टिक के रंगीन कटोरे वगैरह भँसते दिखलायी पड़ते थे। आज सुवह उठकर पंछी की लाश पर दृष्टि पड़ी तो मन इस अपशकुन से आशंकित हो गया। रात के तीसरे पहर में एक वार उठकर देखा था, मछली पकड़नेवालों के अलावा तीन-चार व्यक्ति पैर से टटोल-टटोलकर कुछ खोज रहे थे। जो कुछ मिलता था उसे हाथ में एक वार लेकर देखते। अपने झोले में रख लेते या फिर पानी में फेंक देते···सूअर के कई वच्चों की लाशों को लाठी की 'वँहगी' में लटकाकर भंगियों का दल आ रहा था। दल के एक युवक ने मुर्गी की लाश का पीछा किया। पानी से उठाकर डैने को खींचकर जांचने लगा

तमाशबीन जनता की छोटी-बड़ी टोलियों का आगमन शुरू हुआ··· एक नीमजवान 'नवसिखुआ' कैमरावाला लड़का कमर भर पानी में खड़ा होकर—पूरब मुंह से—यानी सूरज की ओर मुंह करके—तस्वीरें ले रहा है। नहानेवाले लड़के उसके समाने जाकर मुंह चिढ़ा रहे हैं। एक लड़का गले तक पानी में डूबकर अद्भुत आवाज़ में डूबती हुई लड़की का अभिनय करते हुए पुकारा—"ब-चा-ओ ! ···बचाओ ! मैं डूबी जा रही हूं···" भीड़ का एक कड़ियल-जैसा आदमी कैमरावाले से तैश में कुछ कह रहा है। ब्लाक नम्बर एक के छत पर खड़े लोग भी चिल्ला-चिल्लाकर कुछ कह रहे हैं। हमारे ब्लाक के मुंडेरे से भी आवाजें कसी जाने लगीं···यहां लोग कल से घिरे हुए हैं, न कहीं नाव है, न रिलीफ और ये फ़ोटो लेनेवाले सिर्फ़ तस्वीर ले रहे हैं ?···इसी को कहते हैं कि किसी का घर जले और कोई मौज से तापे···मत खींचने दो किसी फोटोवाले को कोई भी फोटो··· इनको पैसा कमाने का यही मौका मिला है ?

कैमरावाला जवान (नवसिखुआ भले ही हो) बुद्धिमान है। उसने तुरन्त कैमरे का रुख तमाशबीनों की ओर कर दिया। तैश में आया हुआ कड़ियल-जैसा आदमी तुरन्त ठंडा हो गया और गले में लिपटा हुआ अंगोछा ठीक कर मुंह पर हाथ फेरकर फोटो खिचाने के पोज में खड़ा हो गया। नहानेवाले लड़कों ने वहां पहुंचकर पानी उलीचना-छींटना शुरू किया। भीड़ का दूसरा आदमी अब तैश में आकर नहानेवाले ऊधमी लड़कों को डांटकर भगाने लगा। छाती-भर पानी में भागते हुए लड़कों में से एक, अपने ड्रम के 'बेड़े' पर चढ़ गया और अपने पेंट के अग्रभाग के एक विशेष स्थान की ओर संकेत करके बोला—'इसका फोटो लो'···कुछ लोग हँसे। कुछ ने मुंह फेर लिया और कई लोग एक साथ—"अरे-रे-रे-रे हरमजदवा···" कहकर चुप हो गये···छाती-भर पानी में जाने का साहस उनमें नहीं था···मुझे पांच सात महीने पहले देखी हुई युगोस्लावी फ़िल्म (वी आर विविच्ड, इरिन) के एक दृश्य की याद आ गयी। झरने में अर्द्धनग्न नहाती इरिन को चारों ओर से छिपकर देखनेवाले आवारे लड़कों को जब इरिन के ससुर ने खदेड़ते हुए कहा था कि अब अगर इधर कभी देखा तो जान से मार डालूंगा···"विल 'किल यू' तो भागते हुए छोकरों

में से एक ने कुछ दूर जाकर, सनटकर ऐसी ही मुद्रा बनायी थी—'किस दिस !'

फोटो लेनेवाला लड़का 'डिमोरलाइज्ड' होकर कैमरा समेटकर चला गया···मेरा कोई मित्र होता या मैं खुद होता तो इस 'पोज' को कभी 'मिस' नहीं करता।

···लेकिन कैमरावालों के प्रति लोगों का अचानक यह आक्रोश क्यों ? यह तो अच्छी बात नहीं। अपने कई प्रेस-फोटोग्राफर मित्रों तथा अन्य ग़ैर-पेशेवर फोटोग्राफर दोस्तों की याद आयी···जनार्दन ठाकुर, सत्य-नारायण दूमरे, सूर्यनारायण चौधरी,वासुदेव शाह, सत्यदेव नारायण सिन्हा (आर. एस. चोपड़ा तो बम्बई जा बसे) तथा गुरु उप्पल के अलावा बहुत सम्भव है बाहर के जाने-माने छायाकार आये हों। पता नहीं, उनके साथ क्या-क्या व्यवहार करें ये ?"

मैं अब अपनी छत पर 'चचागिरी' करने के लिए पहुँचा। मेरे ब्लाक के लड़के मेरे नाम के साथ 'चचा' जोड़कर मुझे सम्बोधित करते हैं। छत पर जो भी 'भतीजे' मौजूद मिले उन्हें मैंने समझाया कि किसी फोटो लेने वाले को 'हूट' न किया जाये। वे तुरन्त समझ गये—"अच्छा चचाजी ! हम लोग नीचे जाकर इन लड़कों को समझा देते हैं···"

नहानेवालों की टोली के उत्साह में बाधा डाली—एक गाय की लाश ने। लाश फूलकर मॅसती और दुर्गन्ध फैलाती हुई आ रही थी। मेरे कमरे की खिड़कियों से बदबू का पहला झोंका आया···ब्लीचिंग पाउडर और फिनायल की महक के साथ सड़ती हुई लाश की दुर्गन्ध···लगता है, किसी मुहल्ले में यह अटक गयी थी। और, वहाँ इस पर प्रचुर मात्रा में ब्लीचिंग पाउडर और फिनायल डाला गया था···असह्य दुर्गन्ध ! कहीं हमारे ब्लाक के नीचे किसी दुकान में न अटक जाये। फिर तो साँस लेना भी मुश्किल हो जायेगा। जीना दूभर हो जायेगा ! ···नहीं, अब तक धीरे-धीरे बहती हुई आती लाश, सड़क की मुख्य धारा के पास जाते ही—एक बार नाच-कर—तेज धारा के साथ हो गयी और फिर उसकी गति काफी तेज हो गयी।

'एई जा ! ···गेंम फुरलो···गेंम समाप्त ! मैंने कहा था न ?" रसोई-

लती हुई लतिका जी बोलीं ! ।...(चुपचाप कोयलेवाला
ी तैयारी करने लगीं ।
वरामदे पर खड़ा रहा···वह आ रहे हैं, डॉक्टर शिव-
में बड़ी-सी लाठी लेकर टेकते हुए, अस्पताल जा रहे हैं···
क्या यही सितार बजा रहे थे ? पूछूं ?···नहीं, अभी तो यह
सितारवादक नहीं ।
कमर से धोती लपेटे, गंजी पहने—लाठी टेकते और मुस्कराते
चित मुखड़े पर दृष्टि पड़ी—ओ ! परेसजी हैं । 'रूपरंग' नाट्य
निदेशक-लेखक अभिनेता···परेसजी मेरे ही ब्लाक की ओर आ
? मेरे फ्लैट के नीचे आकर बोले—"अरे ! यहाँ तो बहुत तेज
है । लगता है, उठाकर फेंक देगा ।" उन्होंने पूछा, "सिगरेट है न ?
और किसी चीज़ की ज़रूरत ? जी नहीं, हम लोगों का क्वार्टर ऊँची
ह पर है । पानी नहीं है···मित्रों की खोज-खबर लेने निकला हूँ ।"

मैंने कहा—"इधर कहीं किरासन तेल मिलेगा ? हम लोगों की 'गैस'
भी-अभी खत्म हुई है···स्टोव के लिए किरासन चाहिए । यदि उधर···"

"अच्छी बात ! देखते हैं ?"—परेसजी नीचे से ही चले गये ।

लतिका मुझे झिड़की देती हुई बोली—"तुम भी कैसे हो ? बेचारा हाल-समाचार पूछने आया था और तुमने किरासन तेल की फरमाइश कर दी···लज्या नेई तोमार एकटू ?"

"लाज की क्या बात है इसमें ? मित्र हैं । बाढ़ से पीड़ित नहीं हैं ! हाल-समाचार पूछने आये थे···इनसे सहायता माँगने में क्या लाज ?"

दिल्ली से प्रसारित समाचार में कहा जा रहा है कि सेना के जवान लोगों को सुरक्षित स्थानों में पहुँचा रहे हैं ! हेलिकाप्टरों से खाद्य सामग्रियाँ गिरायी जा रही हैं !···केन्द्रीय खाद्य-मन्त्री ने हवाई सर्वेक्ष के बाद वक्तव्य दिया है···

दिल्ली के समाचार के बाद, पटना के फतुहा 'कैम्प-केन्द्र' से आवश्यक सूचना प्रसारित की जा रही है, आज किसी पेशेवर अना की आवाज़ है—भीषण बाढ़ के कारण, पटना नगर में पानी की आप बाधा पड़ गयी है, अतः पेयजल का भीषण अभाव हो गया है···ना

से अनुरोध है कि वे किसी भी प्रकार के पानी को पन्द्रह मिनट तक उबालने के बाद काम में ला सकते हैं···

किसी भी तरह के पानी का मतलब हुआ कि बाढ़ के पानी को भी पन्द्रह मिनट तक उबालकर (छानकर नहीं?) पी सकते हैं?···मैंने अपने कमरे के कोने में बैठे हुए देवता से कहा—"अब इस शहर के सभी नागरिक 'परमहंस' हो जायेंगे···तुमने कहा है न—जिस दिन नाली के गन्दे पानी और गंगाजल में कोई भेद नहीं मानोगे···लेकिन, मैं परमहंस नहीं होना चाहता। दया करके मेरे 'टैप' को 'ठप्प' मत करना।"

'घायल' आ रहा है। नरेन्द्र घायल। मैंने इसका नाम दिया है—स्वामी मुश्किल आसानानन्द। पुनपुन की बाढ़ के समय भी सबसे पहले 'घायल' ही पहुँचा था। बीमारी के समय, अस्पताल में लगातार तीन महीने तक सेवा करता रहा। मैं तो, उसके जिला-जवार, गाँव-घर का भैया ही हूँ—किन्तु पटना के किसी भी दुखी और बीमार साहित्यसेवी की सेवा और सहायता के लिए वह सदा तत्पर रहता है—चाहे वह पण्डित शिवचन्द्र शर्मा हो या कोई अज्ञात कुलशील नया लेखक···आते ही उसने पूछा—"भाभी! लगता है आपका गैस खत्म हो गया है। नाला रोड में पानी भरा हुआ है और गैस कम्पनी भी डूबा हुआ है···"

मैंने कहा—"अगर किरासन तेल की कोई व्यवस्था कर सको···"

"व्यवस्था क्या, ले ही आता हूँ।" वह उठ खड़ा हुआ। लतिकाजी ने रोकते हुए कहा—"अरे, कहाँ जाते हो? अभी तो चूल्हा सुलगा लिया है। चाय पी लो।"

मैंने कहा—"उस दिन फ्रेजर रोड पहुँच नहीं सका। डबल रोटी नहीं ला सका। डी० लाल की दुकान डूब चुकी थी। कार कम्पनी भी···"

"आ जायेगी रोटी भी। अशोक राजपथ पर मिल जायेगी।"

"अब तुम लगे न फरमाइशी···"

"और आपकी सिगरेट का क्या पोजिशन है?"

"सिगरेट तो है। लेकिन, हथुआ मार्केट खुला हुआ हो तो विश्वनाथ की दुकान से मगही पान···"

लतिकाजी अब सचमुच क्रुद्ध हो गयीं—"और, चार बोतल कोका-

कोला ? नहीं घायल। कुछ भी नहीं लाना है···ऐसे दुर्दिन में आदमी को अपनी जरूरत कम करनी चाहिए और इनकी फेहरिस्त लम्बी होती जा रही है।"

जनाब सत्यनारायण दूसरे साहब कन्ध से झोला-झब्बा लटकाये आये —घुटने तक पेंट समेटे। मैंने पहला सवाल किया—"स्टूडियो कितने पानी में है ?"

"कमर-भर।"

"फोटो लेते समय लोग गालियाँ तो नहीं देते, यानी 'हूट-कट' तो नहीं करते ?"

"यह आपको कैसे मालूम हुआ ? कुछ अजीब हालत है, इस बार··· पत्रकार और फोटोग्राफर को लोग नाव पर चढ़ाना भी नहीं चाहते··· मैंने तो पच्छिम पटना करीब-करीब कवर कर लिया है।"

"कहीं, शारदेय पर नजर पड़ी ?"

"दो दिन पहले 'संगी होटल' में थे—ऐसा मालूम हुआ है···वह बम्बई चला गया होगा।"

"बोटानिकल गार्डेन के पशु-पक्षियों का क्या हाल है ?"

"पोल्ट्रीफार्म तो एकदम साफ है···बोटानिकल गार्डेन के भी कई जानवर बह गये हैं। कुछ डूब भी गये होंगे।"

दूसरे और घायल चाय पीकर चले गये। मैं फिर कुदरत का जलवा देखने के लिए खिड़की के पास हो गया···अब वह किस मृत प्राणी की लाश आ रही है ? बहकर आनेवाली कोई भी छोटी-बड़ी चीज हमारे ब्लाक के पिछवाड़े में आकर मन्द गति से इधर-उधर थोड़ा चक्कर काटती है। हमारे ब्लाक की अर्धवृत्ताकार इमारत के पास आकर, हर फ्लैट के नीचे से गुजरती हुई, सड़क की ओर जाकर तेज धारा के साथ हो जाती है। शायद, बछड़ा है। नहीं। यह अलसेसियन कुत्ता है। दोनों कान शान से खड़े हैं ? रोब में कहीं कोई कमी नहीं। कान से पूंछ तक इसकी मुद्रा और तेवर देखकर ही समझ लेता हूँ—इसने बहादुरी से मौत को वरण किया है। मौत की छाया पर झपट्टे मारकर लड़ता हुआ मरा है।

···बाढ़पीड़ित ग्रामीण क्षेत्रों में मृत पशुओं की—गाय, बैल, घोड़े,

बकरी आदि की—लाशें बहुत बार देख चुका हूँ···अलसेसियन कुत्ते की लाश, शहर की बाढ़ का प्रतीक, पहली बार देख रहा हूँ।

बाहर शोर हुआ—कुम्हरार में भी पानी घुस गया। कुम्हरार और कंकड़बाग में आज पानी घुसा है।

···अब प्राचीन पाटलिपुत्र (अशोक के पाटलिपुत्र) को धरती के नीचे से खोदकर उद्धार करेंगे या आधुनिक पटना को भूगर्भ में जाने से बचायेंगे ?

अब इधर-उधर—बाहर, भीतर कुछ भी देखने का मन नहीं करता। क्या करूँ। कुछ पढ़ने की चेष्टा की जाये···विश्वकवि की शरण गहूँ।

निबन्धमाला—द्वितीय खण्ड। पृष्ठ उलटाया और पढ़ना शुरू किया तो अचरज के मारे बहुत देर तक चुपचाप कमरे के कोने में बैठे ठाकुर को देखता रहा···यह कैसा संयोग ? पृष्ठ उलटाया और यहाँ भी बाढ़ का प्रसंग ?···यह क्या सम्पूर्ण 'काकतालीय'—संयोग है ?"···और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भी पंछी की लाश पर ही दृष्टि पड़ी थी ?

पढ़ना शुरू करता हूँ—'शिलाइदह, ६ अगस्त, १८९४···नदी एकेबारे कानाय भरे गेछे। ओ पारटा प्राय देखा जाय ना···आज देखते पेलुम, छोटो एकटि मृत पाखी स्रोते भेसे आसछे···और मृत्युर इतिहास बेश बोझा जाच्छे···किसी, एक गाँव के बाहर बाग में, आम की डाली पर उस का 'बासा'(घोंसला) रहा होगा। साँझ को 'बासा' में लौटकर संगी-साथियों के नरम-नरम गर्म डैनों के साथ अपना पंख मिलाकर श्रान्त देह सो रहा होगा···हठात् पद्मा ने जरा करवट ली और पेड़ के नीचे की मिट्टी अररा कर धँस गयी। नीड़च्युत पंछी ने हठात् एक मुहूर्त के लिए जगकर 'चें' किया, इसके बाद फिर उसको जगना नहीं पड़ा। मैं जब मफस्वल में रहता हूँ—रहस्यमयी प्रकृति के पास, अपने साथ अन्य जीव का अभेद आंकचित्कर उपलब्धि करता हूँ। शहर में 'मनुष्य-समाज' अत्यन्त प्रधान हो जाता है। वहाँ वे निष्ठुर रूप से अपने सुख-दुख के सामने अन्य किसी प्राणी के सुख-दुख की गिनती ही नहीं करते···एक पंछी के सुकोमल पंखों से आवृत्त स्पन्दमान क्षुद्र वक्ष के अन्दर जीवन का आनन्द कितना प्रबल है, इसे मैं अचेतन भाव से···भूले थाकते पारि ने···'

कलाकारों की रिलीफ़ पार्टी

आज सुबह से ही 'अपने लोग'—स्वजन-सनेही, मित्र और प्रीतिभाजन-जन—हमारी सुधि लेने आ रहे हैं। कोई खाली हाथ नहीं आता। एक हाथ में लट्ठ और दूसरे में हमारे लिए कोई-न-कोई आवश्यक सामान…सभी एक अभूतपूर्व 'मेकअप' में—लुंगी या धोती लपेटे, गंजी पहने। डाक्टर रामवचन राय आये, तो उनके हाथ में जो लाठी थी वह उनसे भी वज़नी रही होगी। मैंने हँसकर कहा था—"आचार्यजी, लाठी में गुण बहुत हैं, सदा राखिये संग। नदि-नाला…"

परेसजी आये, हाथ में बोतल लेकर—"बहुत मुश्किल से एक बोतल 'ऊपर' किया है। आज-भर तो काम चल जायेगा न…?"

बोतल पर 'ब्लैकनाइट' का लेबुल…हालांकि काफ़ी मटमैला और बदरंग था। लतिकाजी आतंकित स्वर में बोलीं—"यह…क्यों…फिर…फिर…?"

"जी, किरासन तेल!"

एक क्षण पहले ही जिनको मेरा कोई महामद्यप और 'माताल' मित्र समझकर दरवाज़े पर से ही विदा करने को सोच रही थीं लज्जित और पुलकित होकर उन्हें धन्यवाद देने लगीं—"अन्दर आइए न…भीगकर आये हैं। चाय पी लीजिए।"

मैंने लतिकाजी से एकान्त में अनुनय किया—"तुम दया करके इनसे यह मत पूछा करो कि दाम कितना लगा। आर्टिस्ट लोग हैं, छोटी-सी बात से ही ठेस लग जाती है इन्हें।"

अभी कुछ देर पहले डाक्टर रामवचन राय एक बड़े झोले में हरी और टटकी सब्जियाँ भरकर ले आये—झिगुनी, रामतोरई, करेला, परवल, भेंचवीत, हरी मिर्च और चार दुधिया-नाज़ुक मकई के बाल···

लतिकाजी ने औपचारिकतापूर्ण बातों के साथ ही पूछ लिया—"तीन चार किलो तो जरूर होगा—सब मिलाकर। इतना ढेर क्यों ले आये? ···कितना दाम···?"

मैंने बात को बीच में काटते हुए रामवचनजी से कहा—"असल दिक्कत किरासन तेल की है।"

'तोमार बस एकई कथा—किरासन तेल। नहीं, रामवचनजी, आप किरासन तेल मत लाइएगा। मैं भी अभी निकलूँगी, ले आऊँगी···देखिए न, आज सुबह से जो भी आते हैं सबसे बस किरासन तेल की दिक्कत···मैं तो डरी कि कहीं अपने नये 'जमाय' और 'कुटुम्ब' को भी किरासन तेल की दिक्कत सुनाकर फ़रमाइश न कर बैठें।"

परेसजी बैठे ही थे कि डाक्टर रामवचन राय 'डालडा' के एक नये डिब्बे में किरासन तेल लेकर लौटे। इसके तुरन्त बाद ही श्रीमान घायल एक किरासन तेल वेंडर को ही गाड़ी के साथ लेकर प्रकट हुए—"लीजिए, कितना तेल लीजिएगा।" घायल के हाथ में 'फँरेज़नी' की दो डबल रोटियाँ थीं—"अशोक राजपथ पर एक दूकान में मिल गयी···"

मित्रों के जाने के बाद लतिकाजी की बेकार की बहस को मैंने समाप्त करने की चेष्टा की—"देखिए मैं, यानी पटना का एक लेखक, अर्थात् कलाकार, बाढ़ से घिरा हुआ हूँ···एरा आमार जातेर लोक,···ये हमारी बिरादरी के लोग हैं—लेखक, कवि, पत्रकार, कथाकार, आर्टिस्ट, अभिनेता—मेरी सुधि लेने आते हैं और मेरे लिए 'रिलीफ़' ले आते हैं। मुझे जिस चीज की जरूरत होती है उनसे बेझिझक कह देता हूँ···अपने को धन्य मानकर, उनके लाये हुए 'सौगात' को प्रसाद से भी अधिक पवित्र समझकर, निर्विकार चित्त से उपभोग करता हूँ। इसमें लाज-शर्म की बात अथवा 'जग-हँसाई' कहाँ है?···हाँ, बेटी के ससुराल से आये हुए फल तथा अन्न को आप निश्चय ही अलग रख दीजिए।"

सरदारों की रिलीफ टोली आज दोपहर में भी रोटी-पानी बाँट गयी

है। आसपास के मकानों में बसेरा लिये हुए लोग गर्म-गर्म रोटियां खाते हुए बतिया रहे हैं—"पूरी से भी ज्यादा स्वाद है इस रोटी में···कितना प्रेम से 'बांट-बखर' करते हैं; न किसी को कम न किसी को ज्यादा···बोल रहे थे कि सांझ को भी 'लंगर' आयेगा, घबराना मत···ई 'लंगर' का है हो ?"···"हं हें हें—लंगर नहीं समझा—यही जो खा रहे हो।"

अभी टेलीफ़ोन लाइन ठीक रहती तो कहीं से जाकर सीधे अपने पुराने मित्र सरदार चन्द्रमोलेश्वर सिंह को इन संवादों के साथ बधाई दे देता···चन्द्रमोलेश्वर नाम सिख नामावलि में असाधारण, 'अनकॉमन' और अजनबी भले ही हो—सरदार चन्द्रमोलेश्वर श्री पटणासाहब गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के जनरल सेक्रेटरी हैं। पंजाबी सिक्ख नहीं, पूर्णिया के सिक्ख हैं। इसलिए इतना मनोहर नाम है। हां, हमारे जिला में पन्द्रह-बीस टोलों के ऐसे-ऐसे बड़े गांव भी हैं जहां अचानक पहुंचकर किसी को भ्रम हो सकता है कि हरयाणा अथवा पंजाब के किसी इलाक़े में आ गया है···ढोर चराते हुए सिक्ख, खेत गोड़ते हुए सिक्ख, बैलगाड़ी पर सरदार, घोड़े पर—इधर-उधर हर तरफ़ छोटी-बड़ी, रंग-बिरंगी (और बदरंगी भी) पगड़ियोंवाले—छोटे-बड़े सरदार···गुरु तेगबहादुर ने असम जाते समय यहां गंगा पार कर डेरा डाला था और यहां के लोगों के बीच 'सतसंग' करके धर्मप्रचार किया था। पांच धर्मप्रचारकों को वह छोड़कर गये थे। अब तो इस इलाके में दो गुरुद्वारे हैं–उचला में, लक्ष्मीपुर में। बोली, पूर्णिया के गांव की ही बोलते हैं···हमारे मित्र सरदार श्री चन्द्रमोलेश्वर इसी इलाक़े के एक बड़े गांव 'उचला' के निवासी हैं तथा तेगबहादुर द्वारा रखे गये पांच धर्मप्रचारकों में से एक के वंशज हैं। इसलिए गुरुद्वारा पटना साहब की ओर से बंटनेवाली 'रिलीफ़' का थोड़ा श्रेय स्वयं लेता हुआ मैं कहता हूं—"यह भी समझो कि···हमारे पूर्णिया के 'परताप' से ही···"

शाम को एक नया दल आया। एक मुहल्ले के कई प्रवासी बंगाली-बिहारी गायक, वादक, लेखक, गीतकार, कवियों ने मिलकर मुहल्ले के घर-घर से 'मुठिया' जमा किया। एक नाव किराये पर ले आये। अपने हाथों से रोटियां बेलकर, सेंककर, सब्जी पकाकर बड़े-बड़े 'देग' में ले

आये हैं। दूध के चूरे और दवाइयाँ भी हैं···नाव पर खड़े एक युवक की सूरत अतिपरिचित-सी लग रही थी। वह भी मुझे उसी दृष्टि से देख रहा था और मेरी ही तरह मटक रहा था। मैंने पुकारा—"आलोक ? आलोक-धन्वा ?" वह हँसा। नाव से नीचे उतरकर हमारे फ़्लैट के नीचे आया। उसने दाढ़ी मुड़ा ली है और मेरी दाढ़ी बढ़ गयी है, इसलिए···

मैंने फिर लतिका को छेड़ा—"बाहर आकर देखिए, हमारे तरुण कलाकारों की रिलीफ़ पार्टी।"

तरुण कलाकारों की नाव रोटी, सब्ज़ी, दूध, दवा बाँटती हुई चली गयी। मैं बहुत देर तक चुपचाप न जाने क्या सब सोचता रहा कि मन फिर कातर होने लगा। किन्तु अपनी कसम की याद करके तुरन्त 'चंगा' हो गया।

लतिका देवी अपने सगे, सम्बन्धियो और छात्राओं का हाल-समाचार जानने के लिए निकल पड़ी हैं। मुझसे इस बार इस औपचारिकता का निर्वाह भी नहीं हो सकेगा—मुझे इसका खेद है।

इन दिनों छत पर पहुँचने का अर्थ है 'गांधी मैदान' पहुँच जाना; मतलब छत पर पहुँचते ही अपार जनता के बीच पहुँच जाना-सा हो जाता है। पहुँचते ही चारों ओर से प्रत्येक फ़्लैट के निवासियों द्वारा संचित, संग्रहीत तथा सम्पादित समाचार मिलने लग जाते हैं···इण्डस्ट्रियल स्टेट में दरवाज़ा नहीं खुल सकने के कारण एक पूरा परिवार ही···किदवईपुरी मे एक स्कूटर पर स्वामी-स्त्री और बच्चे की लाशें—स्वामी स्कूटर का हैण्डिल एकदम 'टाइट' होकर पकड़े हुए था···एक लड़की के बक्से में दो बच्चे मिले। एक मर चुका था। बक्से के अन्दर एक चिट्ठी थी···'हम लोग पानी से घिरे हैं। अगर आप लोगों में से किसी को यह बक्सा मिले···' 'अरे साहब, तटबन्ध को तो 'फ़लाना' ने उड़ा दिया है···वीमेंस कालेज में क्या हुआ सो मालूम है ?

अब मैं ऐसी बातों से नहीं चिढ़ता। मुझे इन लोगों से अब सहानुभूति होने लगी है। बेचारे चारों ओर से पानी से घिरे हुए लोग, छत पर आकर कुछ सुन-सुनाकर अपनी 'बोरियत' को दूर कर लेते हैं···सम्भव है ऐसी विपदा की घड़ी में आदमी थोड़ा बेमतलब और बेसिर-पैर की 'नानसेंस'

बोलकर कुछ राहत हासिल करता हो।

किन्तु, आज पहुँचते ही एक मतलब की बात की—बोरिंग रोड की ओर से किसी फ़्लैट में आकर टिके हुए एक पटनियाँ-बंगाली नौजवान ने। बोला—"हम लोग अगस्त से लेकर अक्तूबर तक किसी भी स्थानीय समाचारपत्र के दो-तीन कालम को कभी नहीं पढ़ते थे—उत्तर बिहार की बाढ़ के समाचारों के कारण। हर वर्ष नियमपूर्वक आनेवाली हर बाढ़ को पिछले साल की बाढ़ से बढ़कर बताया जाता। किसी तटबन्ध का टूट जाना और फ़सल के साथ जान-माल की बर्बादी के समाचारों के कोई प्रभाव हम पर नहीं पड़ते थे। इसीलिए इस बार ऐसा लगता है कि···हे मोर अभागा देश, जादेर कोरेछो अपमान हते हबे तादेर समान···"

उस युवक को इस तरह आवेश में आकर आवेगपूर्ण आवृत्ति करते सुनकर उसकी फूफी या मौसी ने पुकारकर कहा था—"खोकन, की सब जा-ता देश-टेश निये जादेर-तादेर संगे तुई 'आबोल-ताबोल' बले बेड़ाच्छिस ?···नीचे चल !"

मन में हुआ कि टोकूँ—"की दीदी ?···आपनि रवि ठाकुरेर कविता के आबोल-ताबोल बलछेन ?" किन्तु फिर समझा कि वह 'भद्रमहिला' शायद ठीक ही कह रही है।

इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के नये मकान की छत पर बाढ़पीड़ितों के कई परिवार एकत्रित होकर वार्त्तालाप कर रहे हैं। ऐसी ही ख़बरें वहाँ भी प्रसारित प्रचारित हो रही हैं···कमला-बलान नदियों के इलाक़े में रहनेवाले एक व्यक्ति ने कहा—"जे दुखे छोड़लहु घोराघाट, से दुख लागले रहल साथ··· जिस दुख के कारण घोराघाट छोड़ा वह दुख साथ लगा ही रहा। कमला-बलान ने गाँव उजाड़ दिया, तो भागकर पटना आये। पटना आये तो—ले बलैया ! पटना में भी वही हाल !"

उसके साथी ने कहा—"पटना में भी वही हाल कैसे ? वहाँ, अपने गाँव में, बाढ़ के समय रहने को तिमंज़िला मकान मिलता था ! एँ ! बोलो ! ऐसन नरम-नरम, गरम-गरम रोटी और रसादार तरकारी वहाँ मिलता था ? ए ? बोलो ?"

"अयँ हो, रेडियो में तो बोलिस है कि होली-कपटर से बनल-बनावल,

पकल-पकावल खाना गिरावल जाता है। मुदा इधर कहाँ गिराइस है एको दिन ? अयँ हो···?"

"सुनते हैं जी ? सरदारजी लोग के 'लंगर' में अभी जो पियाज की चटनी दिया था ऐसा स्वाद था कि क्या बतावें। कि सच्चो कहते हैं—टोकरियो भर रोटी हम उत्ती-सी चटनी से खा जाते !"

"धेत्त मर्दे ! टोकरी-भर रोटी खाने का मिजाल है तुम्हारा ?"

शाम को साढ़े सात बजे पटना उर्फ फतुहा कैम्प-केन्द्र ट्यून किया—"अब आप रामरेणु गुप्त से समाचार सुनिए···!"

तो आज न्यूज एडिटर श्री एस. एन. मिश्रा सदलबल फतुहा कैम्प केन्द्र पहुँच गये हैं ? ···रात में दो विशेष प्रसारण की विशेष सूचनाएं प्रसारित की गयी हैं।

लतिकाजी रात के साढ़े आठ बजे लौट आयी, तो उधर से जितनी खबरें लेकर लौटी थी उनमें से प्रायः सभी समाचार कुछ हेर-फेर के साथ मैं अपनी छत पर ही सुन चुका था।

···पानी में 'क्लोरिन' की मात्रा इतनी बढ़ा दी गयी है कि चाय, कॉफी, रोटी, दाल सबमें बस एक ही स्वाद। कहते हैं क्लोरिन का दाँत के 'एनामेल' पर बुरा असर होता है !

···कल रात को काले भयावने बादलों को देखकर मुँह से सहसा निकला था और मैंने सिगरेट की डब्बी पर लिख दिया था—"तुम्हीं क्यों बाकी रहोगे आस्मां !"···आज उसके नीचे दूसरी पंक्ति लिखकर प्रसन्न हुआ—"तुम ही क्यों बाकी रहोगे आस्मां ! कहर बरसाकर शहर पर देख लो !"···कहर 'बरसा' कर या 'बरपा' कर ? नहीं, बरसाकर ही ठीक है ! ···किन्तु मुझे सन्देह है कि ये पंक्तियाँ मेरी नहीं किसी और शायर की हैं···दुष्यन्त को लिखकर पूछूँ। बहुत देर तक दुष्यन्त की एक गज़ल की कई पंक्तियों को मन-ही-मन दुहराया। फिर शमशेर के शेर को इन दो पंक्तियों को तरन्नुम के साथ गुनगुनाता रहा—"जहाँ में अब तो जितने रोज अपना जीना होता है। तुम्हारी चोटें होनी हैं, हमारा सीना होना है। जहाँ में अब तो जितने रोज़···"

शायद क्लोरीन में अन्य गुण-अवगुण के अलावा शीघ्र सुलाने की भी

थोड़ी शक्ति होती है। बिछावन पर लेटा और सम्भवतः दस मिनट के बाद ही गहरी नींद आ गयी।

सुबह साढ़े छह बजे छत पर दौड़-धूप और आपाधापी से नींद खुली··· आकाश में एक साथ कई विमानों की सम्मिलित भनभनाहट···हाँ! हाँ! लगता है इसी में हैं। इसी में···? इण्डियन एयरफ़ोर्स का प्लेन है न? तब इसी में हैं!···

उठकर खिड़की पर गया। आज अभी भीड़ कम है। बाहर, भीतर सभी लोग आस्मान की ओर आँखें उठाकर देख रहे हैं। 'एहि में हो··· एहि में हो? एहि में···बीचवाला में···हमको तो आवाज़ से ही पता लग गया कि यही प्लेन है।'

आकाशवाणी से प्रसारित प्रत्येक बुलेटिन में कल से ही कहा जा रहा है कि सेना के विमान और हेलिकॉप्टरों के द्वारा बाढ़ में फँसे हुए लोगों को सुरक्षित स्थानों में भेजा जा रहा है और पके-पकाये भोजन के पैकेट गिराये जा रहे हैं! अतः हवाई जहाज़ की आवाज़ सुनते ही सभी की आँखें आकाश की ओर टँग जाती हैं···कहाँ गिराया कुछ?

दरवाज़े की कुण्डी खड़की···सुबह साढ़े सात बजे ही पानी हेलकर सुधि लेने कौन 'उदार बन्धु' आ गये? बिछावन छोड़ना ही पड़ा···पास-पड़ोस के ब्लॉक के दो-तीन सज्जन। उनका अधेड़ अगुआ आगे बढ़कर बोला—'आपको थोड़ा कष्ट दिया। माफ़ किया जाये। देखिए, तीन दिन हो गये। अब तक हम लोगों के चारों ब्लाक में एक भी नाव नहीं मिली। सुना है कि 'कलेक्टेरियट' में 'ज्वायंटली' जाकर कहने से नाव मिलती है। तो सोचा कि आपको ही अगुआ बनाकर ले चलें। आपके रहते फिर···"

"मुझे? अरे···मेरे लिए तो···मुश्किल है···मैं तो इतना लाचार हो गया हूँ···कि," मैं हकलाने लगा।

"क्यों-क्यों? बीमार-उमार हैं क्या?"

"मेरा चेहरा देखकर आप कुछ नहीं समझ सके?"

"हाँ, हाँ। इधर थोड़ा कमज़ोर लग रहे हैं। तो क्या तकलीफ है?"

साथ में आये हुए नौजवान को मालूम था कि मैं पेप्टिक अलसर का मरीज हूँ। उसने कहा, "पेप्टिक अलसर है तो आपरेशन क्यों नहीं करवा

लेते ?"

"ग्रापरेशन नहीं। इसको इण्डियन मेडिकल इंस्टिट्यूट-दिल्ली में डाक्टर ग्रात्मप्रकाश के द्वारा 'फ्रीज' करवाना है।"

"यह फ्रीज क्या होता है ?"

"होता है···"

"माफ किया जाये। ग्रापको कष्ट दिया।"

"साला, मिथ्येवादी, बेइमान जोच्चोर···भूठा। भाग यहाँ से।" कमरे के कोने में मुझ पर दनादन गालियाँ दागी गयी। ऐसी गालियाँ सुनकर मन प्रसन्न हो जाता है···तो ठाकुर प्रसन्न है!

'तुम तो जानते हो ठाकुर, मैंने एक शब्द भी भूठ नहीं कहा। मैंने यह भी नहीं कहा कि पेप्टिक ग्रलसर के कारण उनके साथ जाने में ग्रसमर्थ हूँ···ग्रब तुम्हीं बताग्रो न, नाव लेकर मैं क्या करता, ग्रथवा वे ही क्या करेंगे ? उधर सारा पच्छिमी पटना ग्रगम पानी में है—ग्राप छाती-भर पानी में ही हैं। कहीं डुबाव पानी तो है नहीं। कहीं से एक नाव मिल भी गयी तो रोज ग्रापस में ही सिर-फुटौवल···"

सुबह ग्राठ बजे का समाचार सुनकर ही समझा कि लोग ग्राज सुबह साढ़े छः बजे ग्राकाश की ग्रोर हवाई जहाज को क्यों देख रहे थे। केन्द्रीय खाद्यमन्त्री के बाद स्वयं प्रधानमन्त्री हवाई सर्वेक्षण करने के लिए (ग्रायी थीं) ग्राये थे।

ग्राज पानी घटा है। ग्रविराम बहती हुई धारा की गति ग्रौर भी मन्द हुई है। बाढ़ के जल में ग्रब एक विचित्र-सी महक ग्रा गयी है···ग्राज एक भी नहानेवाला नहीं, कहीं भी। पानी में नहाते हुए ऊधमी लड़कों ने कई दिनों से जी को काफी कुढ़ाया था। ग्राज वे नहीं हैं, तो लगता है कहीं जिन्दगी है ही नहीं···जलप्रलय में भी वे जलकेलि करते रहे। रोग के कीड़ों की पर्वाह किये बिना राजेन्द्रनगर गोलम्बर के गोल पार्क के चारों ग्रोर 'तेज गति से चक्कर मारनेवाली' टम ग्रभूतपूर्व 'नयी नदी' में नहाने वाले लड़के सब ग्राज कहाँ चले गये ?

एक नाव से मेडिकल स्वयंसेवकों की टोली एलान कर रही है—"भाइयो! बाढ़ के कारण पटना नगर में तरह-तरह के सक्रामक रोगों के

फैलने की आशंका है। आपके दरवाज़े पर हमारे स्वयंसेवक टीका लगाने पहुँच रहे हैं। कृपया, फौरन टायफायड तथा हैज़े का टीका ले लें।"

एलान सुनकर मन में तुरन्त सवाल उठा—'इतनी दवाइयाँ अभी मौजूद होंगी? अथवा···बाहर से आनेवाली दवाओं के समाचार के आधार पर···?'

रेडियो से बिहार के बाढ़पीड़ितों के लिए 'दान' मिलने के समाचार निरन्तर आ रहे हैं···रोटियाँ, दूध के चूरे, पके-पकाये भोजन, विटामिन की गोलियाँ, दवाइयाँ, रुपये—अनाज···"

रात में छत पर सुना—कल हम लोगों के इलाके पर—राजेन्द्रनगर-लोहानीपुर में हेलिकॉप्टर से खाने के लिए सामान गिराये जायेंगे।···कल दिल्ली से और भी कई बड़े मन्त्री आ रहे हैं···सेना ने पटना शहर को बचाने का काम अपने हाथ में ले लिया है। आर्मी के जवानों ने बचाव-कार्य शुरू कर दिया है···राजेन्द्रनगर में कल खाद्यसामग्री गिराये जाने की बात एकदम पक्की है। देख लीजिएगा!

और सचमुच दूसरे दिन सुबह सात बजे से ही राजेन्द्रनगर में 'एयर-ड्रापिंग' का काम शुरू हो गया।

···आकाश में एक दैत्याकार आँखफोड़वा-टिड्डा जैसा भूरे रंग का फौजी हेलिकॉप्टर, साइरन की तरह अविराम पतली सीटी-सी बजाता हुआ, घोर गर्जन करता हुआ, छतों पर धूल का घूर्णिचक्र उड़ाता, 'लो-फ़्लाइंग' करके धीरे-धीरे नीचे की ओर आता है। 'थुथने' को तनिक आगे की ओर झुकाकर, पूँछ ऊपर किया···। गरगराहट और भी तेज़ हो गयी और लो···लो···वह गिरा बड़ा बक्सा है···कार्ड बोर्ड का बक्सा··· हा-हा···

'सीं-ई-ई-ई-ई···गरगरगरगरगरगर···गुड़रगुड़रगुड़र···सीं-ई-ई-ई-ई-गरगरगरगरगर—एक और आ गया उधर से···उस छत पर एक बक्सा फिर गिरा। एक नहीं दो?'···सि-ई-ई-ई—गरगरगरगर···इस छत पर भी गिरेगा, अपने छत पर भी गिरेगा···सिई-ई-ई···पाइलट सिख नौज-वान है, हँस रहा है···ए, देखो। होशियार। बच्चों को पकड़ो। उड़ जायेंगे···वह चटाई उड़ी···साड़ी-ब्लाउज़-तौलिया सब उड़ा···सिई-ई

गरगरगरगर···गिरा, गिरा···

निश्चय ही उनके पास मूवी कैमरा होगा। उनके पास—अर्थात् हेलिकॉप्टर पर जो लोग बैठे हैं ?···कैसे लगते होंगे ऊपर से हर छतों के दृश्य···सभी मकान के मुँडेर पर औरत-मर्द-बच्चे, इधर से उधर दौड़ रहे हैं, ऊपर की ओर हाथ पसारे। एक-दूसरे को धकेलते, गिरते-पड़ते लोगों के झुण्ड, हर मकान के छत पर ··?

···सि-ई-ई-ई-ई-गरगरगरगर-गुड़र-गुड़रगुड़र—अपने छत पर कोई लाल फ्लैग नहीं ? लाल फ्लैग दिखलाओ···यहाँ भी गिराओ···ओ मिस्टर पाइलट—ऑन दिस रूफ···पाइलट साहेब, इधर भी···इधर भी···अरे यहाँ कुछ बिछा दो—सिगनल दो, यहाँ गिरावेगा···यहाँ-यहाँ···ए, पाइलट साहेब, सर्दारजी—ई···गिराइए···गिराइए···ए, लाल 'फ्लैगिंग' करो···सि-ई-ई-ई-ई-गरगरगरगर—गुड़रगुड़रगुड़र···यहाँ···इस छत पर क्यों नहीं गिरता ? ···सि ई ई ई ई। गरगरगरगरगर···।

मानुष बने रहो

पानी की धारा एकदम मन्द हो गयी। पानी का रंग धारा की गति के साथ ही धीरे धीरे बदल रहा है। बहाव बन्द होते ही पानी का रंग कुछ ही घण्टों में हरा हो जायेगा। पानी पर हरे रंग की पपड़ी जम जायेगी और हवा में सूखी मछली की गन्ध जैसी 'बिसाइन' महक।

आज कई स्थानीय दैनिक पत्रों ने एक पन्ने का 'अंक' निकाला है। पत्रकार मित्र सूर्यनारायण चौधरी कई हिन्दी-अंग्रेज़ी अखबार लेकर आये। डेढ़ पृष्ठों में टेंडर, वाण्टेड, विश्वविद्यालयों तथा अन्य सरकारी अर्ध-सरकारी संस्थानों की विशेष विज्ञप्तियाँ। बाकी में पटना नगर की बाढ़ के सचित्र समाचारों के बीच-बीच में यत्र-तत्र 'बॉक्स न्यूज़' : दिल्ली से इतने हज़ार किलोग्राम माडर्न रोटी आ रही है। दिल्लीवालों के दैनिक राशन में रोटी की कटौती : विदेश से 'केक' और 'चीज़' भी : आगरे के पेठे : कलकत्ते से भी रोटियाँ : प्राण-रक्षक दवाइयाँ और कपड़े।

अखबार पढ़ने के बाद बात समझ में आयी कि क्यों कुछ देर पहले छत पर भाईसाहब इतने उत्तेजित, असन्तुष्ट और क्रुद्ध थे। निश्चय ही उन्होंने आज का अखबार पहले ही पढ़ लिया था। हमारी छत पर हेलिकॉप्टर से पाँच पैकेट जो गिरे थे उनमें से तीन, भाईसाहब तथा उनके परिवार और सगे-सम्बन्धियों के हाथ लगे थे और तीनों में बस चिउरा, भुने चने, पॉप कार्न और दालमोठ? बाकी दो पैकेट में भी यही चीज़ें थीं। भाई साहब के मुँह से, घुले हुए पान की जाफरानी पीक की गुड़गुड़ाहट के साथ लानत-भरी आवाज निकली—"क्या तमाशा है!" फिर, पीक थूककर चालू

हो गये—"एज इफ वी आर लेवरर···तमाशा है···दिल्ली का ब्रेड कहाँ है? बतलाइए। बटर, केक, 'चीज' कुछ भी नहीं, सिर्फ चूड़ा-चना-फरही?···बोरिंग रोड, कृष्णापुरी या पाटलिपुत्र कोलोनी की बात छोड़िए—यहीं, अभी, राजेन्द्रनगर में ही कंट्राक्टर, फलाने प्रसाद सिंह के एरिया में जो पैकेट गिराये गये हैं सबमें 'ए-वन' चीजें—मतलब, ब्रेड-बटर-चीज सबकुछ—और हम लोगों की छत पर सिर्फ ये 'रॉटन' चबेने? बोलिए, इसका क्या जवाब है? एँ?···खुद, सरकारी रेडियो बोलता है कि 'राजेन्द्रनगर इज ए पाश—एरिया—' आलीशान इलाका है राजेन्द्रनगर और वहाँ गिरायी जाती हैं · दिस इज शीयर पार्सियालिटी···नहीं तो और क्या···अरे साहब, खा गया—खा गया, सब खा गया···"

"जो कुछ मिला है आप भी चबा लीजिए। वरना···"

"वरना, क्या···?"

"वरना, नरम हो जाने पर कुरमुराहट नहीं···"

"हुँह! चबा-लीजिए?···आई एम नाइदर ए विलेजर नार ए लेबरर, आर ए बेगर···" मेरे मुँह पर अपनी मुँहतोड़ अंग्रेजी में 'रिटर्न शॉट' मारकर माईसाहब का क्रोध तत्काल कुछ कम हो गया। अपनी एक 'केलिकुंजिका'* से उन्होंने कहा—"पैकेट ले जाओ और उधर 'झोपड-पट्टी' से जो लोग आये हुए हैं उन लोगों को 'डिस्ट्रिब्यूट' कर दो···खा गया, सब खा गया···!!"

बाकी दो पैकेट पानेवालों ने अपनी छत पर उपस्थित लोगों के बीच 'भाग बँटवारा' कर लिया था। चूड़ा और दालमोठ चबाता हुआ प्रोफेसर साहब का नोकर कहता है—"चूड़ा बहुत 'फाइन' है और दालमोठ एकदम पियोर पोस्टमैन में छाना है···"

---

* दस साल पहले दिल्ली में, अपनी पत्नी की छोटी बहन का परिचय देते हुए डा० सुरेश अवस्थी ने किसी संस्कृत कोष का हवाला देकर अर्थ सहित यह शब्द बताया था। उन्होंने 'सिरियसली' कहा था या दिल्लगी में, नहीं कह सकता किन्तु तब से मैं इस शब्द को भद्रतापूर्वक व्यवहार में लाता हूँ।

भाईसाहब नीचे गये तो मेरे पास एक दूसरे सज्जन सरककर आ गये। नम्र और दबी हुई आवाज़ में (फुसफुसाहट में) उनकी शिकायत थी : "उधर प्लास्टिक के बड़े-बड़े 'कैन'…हाँ, इतने बड़े कि उसमें क़रीब चार घड़े पानी तो ज़रूर…एकदम मिल्की व्हाइटकैन के मुँह पर टाइट किया हुआ जेड ब्लैक कैप…लवली…मैंने कल खुद अपनी आँखों से देखा है। हेलिकॉप्टर से गांधी मैदान में पानी पर 'थपाथप' गिराया गया, वहाँ से आर्मी का आदमी बटोरकर नाव पर लेकर वेस्ट पटना की ओर चले गये …मानता हूँ कि हम लोगों के एरिया में पीने के पानी की कमी नहीं है लेकिन, कैन…?"

"उस छत पर अभी ही एक लाल फ्लास्क—छोटा—गिराया है।"

"उधर, लोहानीपुर की एक छत पर कपड़े का बण्डल भी गिरा है… शायद, गलती से गिर पड़ा है।"

"एयर ड्रापिंग दो तरीके से करते देखा। एक, मुँह की ओर से—पाइलट के बगल में बैठकर, दूसरा—दुम की ओर से। मुँह की ओर से गिरानेवाला, पैकेट गिराते समय दुम ऊपर की ओर उठाकर, मुँह नीचे की ओर झुका लेता है और दुम की ओर से गिरानेवाला सिर ऊपर की ओर उठा लेता है…कभी-कभी इतना क़रीब आ जाता है कि उस छत पर लगा कि एक आदमी को हाथों-हाथ पैकेट दे दिया…धन्न है।"

अभी रेडियो से एक आवश्यक सूचना प्रसारित करके लोगों को सावधान किया गया है : 'कृपया अपनी छतों पर ऐसा सामान नहीं रखें जो उड़ सकते हों। हेलिकॉप्टर जब आपकी छत के ऊपर पहुँचे तो उस समय कपड़े, चटाई, किताबें वगैरह हटा लें, और छोटे बच्चों को भी…'

छोटे बच्चे ही क्यों, हेलिकॉप्टर के बवण्डर में पड़कर क्षीणकाय अल्पप्राण बड़े-बूढ़े भी उड़ जा सकते हैं…और औरतों को चाहिए कि हेलिकॉप्टर के नीचे जाने के पहले दक्षिणी ढंग से साड़ी पहन लें। नहीं तो, जैसा कि अभी देखा—सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है कि सारी है कि नारी है कि…खाली बस नारी है।

कुण्डी खड़की…मेडिकल … के तीन-चार विद्यार्थी हाथ में स्टील

टोली को 'गाइड' कर रहा है, हमारे ब्लाक का किशोर टोमेटो। बेचारा थोड़ा तुतलाता है और उत्तेजना अथवा उत्साह में तुतलाहट बहुत बढ जाती है। हमारे ब्लाक के रविजी तो मेडिकल स्क्वाड के साथ ही हैं ? "भाई। यह हैजे और टाइफाइड दोनों एक ही साथ वाली दवा नही है ? क्या नाम है उसका। टी० ए···? सिर्फ हैजे की सूई ? तब तो दो बार ? ···लगा दो दाहिने हाथ के बांह पर ही। अब मेरे दायें और बायें हाथ में कोई फर्क नही···इतनी बार सूई ली है, फिर भी सूई देखकर तनिक घबरा ही जाता हूँ। और हैजे की सूई का दर्द बाढ़ में इतना बढ़ जाता है कि··· बस, धन्यवाद···!!

मेडिको-वालेंटियर ने बुखार की गोलियाँ, आंख मे डालनेवाली दवा और बोरिक पाउडर की पुड़िया दी···जियो। सुखी रहो!!

पास के ही एक फ्लैट के सभी निवासी, जो अब तक बाहर खड़े हंस-बोल रहे थे, अचानक अन्दर चले गये। फ्लैट एकदम निशब्द! टोमेटो ने कुण्डी खड़कायी। अभिभावक ने दरवाजे पर प्रकट होकर ऐसी मुखमुद्रा बनायी मानो पूजा का चन्दा मांगनेवाले लडकों से निबटना है—'क्या है ? हैजे की सूई ? हम लोग तो ताज़ा-ताज़ा गरम-गरम खाते हैं। बासी चीजें नही खाते। सूई लेने की क्या जरूरत ?"

टोमेटो हकलाता है। किन्तु, कभी-कभी मौके पर वाजिब जवाब देते समय उसकी बोली जरा भी नही अटकती। उसने कहा—"एक आप ही लोग ताज़ा और गरम खाते हैं, बाकी सभी लोग बासी, ठण्डा और सड़ा-गला खाना खाते हैं, क्यों ?"

दरवाजा सशब्द बन्द हो गया। सीढ़ियों से उतरते समय एक लड़का बोला—"असल बात कुछ और है। हम लोगों के साथ कोई लेडी स्टूडेण्ट नही है न। और इस फ्लैट में सब मिलाकर ज्यादा···"

"लेडी स्टूडेण्ट नहीं। कल से बी. एस. एफ. के जवान रहेंगे साथ। तब देखना कि बिना चीचपड़ किये किस तरह···" शायद, रविजी बोल रहे थे।

अपने ब्लाक के, एक 'हीरा लड़का'—रंजन की याद आती है। स्वस्थ, सुन्दर, सभ्य और उत्साही। राजीव रंजन। अभी रहता तो निश्चय ही

क्या है ? लोफ, लोफ···डबल रोटी गिर रही है इस बार···दौड़ के। लपक लो। हट जाओ। मेरा है मैंने लूटा। इधर कहाँ ?···वाह। बहादुर लड़की है···बहादुर नहीं, लुटारू ललना। फिर आयेगा। तैयार रहो···

सुबह से ही, जब पहली बार पैकेट गिराये जा रहे थे, तभी से 'एयर ड्रॉपिंग' के इस अभूतपूर्व दृश्य के 'बैक ग्राउण्ड' में एक फ़िल्मी रिकार्ड बजाने का मन कर रहा है। किस फिल्म का वह गाना है, नहीं जानता। किन्तु 'मुखड़ा' से लेकर ताल और बोल सब एकदम फिट। अगर मेरे पास रिकार्ड प्लेयर होता और वह रिकार्ड होता तो हर बार एयर ड्रॉपिंग के समय छत पर निश्चय ही बजाना शुरू कर देता।

चूँकि, मेरे पास कुछ भी नहीं। इसलिए पैकेट गिराते समय मेरे मन में वह गाना मय म्यूजिक और मुखड़े के—कुछ नये 'बोल' लेकर बजता रहता है। सों-ईं। ईं। ईं। ईं—गरगरगरगर—गुड़रगुड़रगुड़र—आ गया जी आ गया। गिरा गिरा गिरा···लूट लूट लूट ले···ए पायलट साहेब··· पें-पें-पें पपम पपम में-ए-ए-खाना मिलेगा, पीना मिलेगा, मैया की शादी है सबकुछ मिलेगा, खाओ मेरे यार, पीओ मेरे यार। लूटो मेरे यार, मीटो मेरे यार···पें पें पें पपम पपम पें-ए-ए-पायलट साहेब, इधर भी गिराइए। जरा रहम खाइए, यों ना दौड़ाइए। पानी भी पिलाइए। पनासक भी गिराइए। इधर इधर इधर गिरा, उधर-उधर-उधर गिरा। क्या-क्या गिरा, क्या-क्या लूटा। ऐं···ये···चूड़ा-चना-दालमोठ ? छोड़ो नहीं यार, फाँको मेरे यार। जो भी गिरे लूट ले, जो भी मिले ठूंस ले। महँगा है फोकट का माल···पें पें···पें पपम पपम पें-एं···

"अरे ? तुम यहाँ बैठे हो। ऊपर छत पर जाकर देखो···"

"पांवरुटिर वृष्टि होच्छे"—लतिका हड़बड़ाती हुई आयी।

"सिर्फ पाव रोटी या उसके साथ और भी कुछ ?"

"पोलिथिन पेपर के बड़े-बड़े पैकेट गिराये जा रहे हैं। पता नहीं उसमें और क्या-क्या है।"

दिल्ली की—कलकत्ते की रोटी, आस्ट्रेलियन मक्खन, यू. के. का केक, चीज और आगरे के पेठे ? मेरी रसना अचानक रसवन्ती हो नहीं—बाढ़ आ गयी मुँह में। बिना चप्पल के ही छत पर दौड़ा। किन्तु, पहुँचते ही

हेलिकॉप्टर के ववण्डर ने मेरे सिर पर, वाल आँख-कान, मुँह में टोकरी-भर धूल झोंक दिया। पनिआयी हुई जीभ अचानक सूखकर काठ जैसी हो गयी। छत के एक कोने में दीवार के सहारे खड़ा होकर धूल झाड़ रहा था, आँखें मल रहा था कि एक उछलती-कूदती किशोरी-सी दीखनेवाली कन्या ने मेरे हाथ में एक थैला थम्हाते हुए कहा—"यहाँ इस तरह खड़ा रहिएगा तो कुछ भी नहीं मिलेगा। लीजिए।"

'माल' से भरा थैला लेकर नीचे उतर आया। लतिकाजी के आगे यह आसमानी तोहफा डालकर सीधे नहाने के घर में घुसा···मेरी देह के प्रत्येक लोमकूप में धूल के कण समा गये थे और सारे शरीर में खुजली और जलन हो रही थी। ऊपर छत पर कुहराम और हाय-तोबा जारी था —"लेकिन, माडर्न का ब्रेड कहाँ है? यह तो लोकल अन्नपूर्णा है···दिल्ली वाली रोटी नहीं गिरायी? वटर-केक-चीज़ कुछ भी नहीं? पेठा भी नहीं?···तमाशा है! ब्रेकफास्ट के समय इधर चना-चवेना और अभी लंच में भुआई हुई फफूंद लगी लोकल लोफ···असल माल सब उधर ही ···खा गया! सब खा गया!"

दरवाज़े पर आकर एक 'भद्र स्त्री' भाषण देने लगी—"यह तो ग़रीबों को बाँटने के लिए गिराया जा रहा है। हम लोगों ने सुबहवाला सब सामान बाँट दिया है और अभी भी जितना मिला है, सब ग़रीबों को दे देंगे।"

लतिका कह रही थी—"हम लोग भी बाँट देंगे। रिक्शेवाले हैं, दाई है।"

किन्तु, वह भद्र स्त्री कहती जा रही थी—"दाई और रिक्शावाले गरीब थोड़ी हैं। हम लोग उधर जाकर···"

मैं बाथरूम में नहाता हुआ ठण्डे दिमाग से सबकुछ समझ रहा था ···बात यह हुई होगी कि इनकी छोटी बहन ने कहा होगा कि एक थैला 'तीस नम्बर' को दे दिया। इस पर परिवार के सभी उसकी मूर्खता पर नाराज़ हुए होंगे और उनको विश्वास हो गया होगा कि तीस नम्बर को जो थैला दिया गया है, उसी में सब 'असल माल'—माडर्न ब्रेड, बटर, केक, चीज़ और पेठे···

"आपसे यह किसने कह दिया कि हम गरीब नहीं हैं ?" मैं बाथरूम से बाहर निकलकर बोला।

हमने दरवाजा बन्द ही किया था कि दस्तक पड़ी। खोलकर देखा, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट के नये मकान के बाढ़पीड़ितों का एक छोटा-सा जत्था—चार-पांच छोटे-छोटे लड़के-लड़कियां और दो-तीन मर्द, एक औरत—"बाबू ! मालूम हुआ है कि हजूर एक झोला भरकर रोटी लूटे हैं···बच्चा सब भूखल' है।"

यह पूछने की जरूरत नहीं समझी कि कहां और किससे मालूम हुआ है। थैला उनके सिपुर्द कर दिया। जत्थे के अगुआ ने रोटियों को गिनकर कहा—"बस ? ई तो छवे गो है। मालूम हुआ कि···"

उस दिन सांझ तक हर दस-पन्द्रह मिनट के बाद दरवाजे की कुण्डी खटखटाती रही—"बाबू ! सुना कि आपको एक बोरा रोटी और विलायती गुलगुला और दूध का पौडर हाथ 'लगल' है···अरे हजुर बाबू साहब ! आप लोगों को भगवानजी बहुत दिया है···'कौनो' चीज का 'कम्मी' है ? थोड़ा 'गरीबों' का खियाल करियें···एक तो गिरानेवाला एक 'चश्मखोर' कि जहां पर गिराना चाहिए वहां नहीं गिराया तिस पर आप लोग 'बाबू भैया' होकर ऐसा 'गरीब मार' करियेगा तो···गरीबन के हक···भला उतना बड़ा थैला में 6वें गो रोटी होगा···खाली रोटियें होगा भला···?"

"भद्र स्त्री ने अच्छी सजा दी !"

दो दिन तक सुबह से शाम तक तीन-चार बार, दो-दो हेलिकॉप्टर हमारे गोलम्बर के ऊपर 'लो फ्लाइंग' करके रिलीफ बरसाते रहे। उनकी गरगराहट मनमनाहट की प्रतिध्वनियां, छत पर (सिर पर) 'भूत-नृत्य' करते हुए लोगों का कुहराम···उनकी धमाचौकड़ी सहते-सहते अनायास ही तन पत्थर का तथा मन 'सन्त' का हो गया है।

एक ओर, गुरु-गौरव गर्जन के साथ ऊपर से करुणा और दया बरसायी जा रही है। दूसरी ओर स्वयंसेवी संस्थाएं चुपचाप ट्रकों, नावों

श्रोर ठेलों पर खिचड़ी, चावल, रोटी, दूध, नमक, पानी, मोमबत्ती, दियासलाई, कपड़े श्रोर दवाइयाँ—स्लम तथा गरीब मुहल्लों में बाँट रही हैं।

रोज-रोज कोई-न-कोई नयी राहत की घोषणा होती रहती है। प्रत्येक 'कार्ड होल्डर' को पाँच किलो गेहूँ मुफ्त : रिक्शाचालकों को भी। पाँच किलो अनाज मुफ्त में मिलेगा। सरकारी कर्मचारियों को पन्द्रह दिनों का वेतन अग्रिम मिलेगा। सिर्फ पन्द्रह ही दिनों का नहीं···पुर्नविचार के बाद फैसला लिया गया है। एक महीने का वेतन बतौर अग्रिम मिलेगा जिसका भुगतान बाद में धीरे-धीरे किया जा सकेगा। सेना के सभी अंग राहत में लगे हुए हैं। जलसेना (नेवी) को भी सतर्क श्रोर तैयार रहने का आदेश दिया गया है। बी० एस० एफ० के जवान डाक्टरों को लेकर संक्रामक रोगों से बचने के लिए लोगों को टीके···! श्रोर एम्फिबियन (मेढ़क गाड़ी) आ रही है जो जल श्रोर थल में समान रूप से दौड़ेगी···

पानी का बहाव बन्द होने के बाद सड़ाँध के साथ 'ब्लिचिंग-पाउडर' की उत्कट गन्ध से हवा बोझिल रहती है। किन्तु, मेरी पंचेन्द्रियों में से अधिकांश शिथिल हो गयी है। इसलिए, किसी तरह का कष्ट नहीं हो रहा।

ऐसी ही मनःस्थिति में—पता नहीं क्यों—सेल्फ से 'परती : परिकथा' निकालकर ले आता हूँ। थोड़ी देर, पृष्ठों को उलट-पलटकर पढ़ने की चेष्टा करता हूँ। पढ़ता हूँ—' कोनार नदी के किनारे—डैमसाइट पर, एक विशाल 'क्रेन' की छाया में बैठते हुए कहा था जीत ने — न जाने कोसी का काम कब शुरू हो···यह मेरा इलाका है। कोसी-कवलित अंचल। जहाँ हर साल लाखों प्राणियों की बलि लेती है कोसी महारानी···

"जितेन्द्र ने इरावती से कहा था—'आपका दुख मैं समझता हूँ। अनुभव करता हूँ, आपके यहाँ की नदियों में खून की बाढ़ आयी थी। एक अन्धवेग, एक पागलपन, एक जनून। रक्त की धाराएँ बहीं···सिर्फ बाढ़ ही

नहीं, दावानल भी। भयंकर लपटें उठानेवाला। सबकुछ जल गया। धन-सम्पत्ति, कला-कौशल। मैं उसकी भीषणता की कल्पना कर सकता हूँ। और, आप भी कल्पना कीजिए उस भूभाग की। डायन कोसी के सुफेद-बलुवाही आँचल पर बिखरे लाखों नये नरकंकालों की कल्पना से आप डर तो नहीं जायेंगी?...'

"इरावती का सपना: उसका प्यार फिर पनप रहा है। इंसान सिर्फ कत्ल और बलात्कार ही नहीं करता। इंसान गढ़ भी सकता है। गढ़ रहा है। बना रहा है। रचना कर रहा है—समाज के लिए, अवाम के लिए। वीरान को बसाने के लिए, बन्ध्या धरती को शस्य-श्यामला बनाने के लिए?...

"समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाना ही मुक्ति का एकमात्र पन्थ है...हमारी मिट्टी में सांस्कृतिक सोना फल सकता है... प्राण नहीं, अनुभूति नहीं। अब मनुष्य को यन्त्र चला रहा है...टेकनालोजी के युग में हम लोग जीवन-उपभोग का मूल तकनीक ही खो बैठे हैं..."

'परती: परिकथा' की इन पंक्तियों को रेखांकित करके रख देता हूँ। फिर 'जुलूस' निकाल लाता हूँ। अन्तिम पृष्ठ की अन्तिम पंक्तियों को पढ़ता हूँ: 'मैं एक विशाल परिवार की बेटी हूँ...इन आत्मीय स्वजनों के बीच पारस्परिक सहानुभूति और सहयोगिता फिर से पनपाऊँगी...मैं अपनी सत्ता को इस समाज में विलीन कर रही हूँ—लोक संस्कृतिक-मूलक—समाज के गठन के लिए...!!'

'कलरबक्स' उठाकर लाता हूँ। कूची से 'परती: परिकथा' तथा 'जुलूस' की चिन्हित पंक्तियों पर गहरा काला रंग पोतकर भी सन्तोष नहीं होता। मन में जमी हुई अशान्ति पिघलती नहीं। तब दियासलाई की एक सलाई जलाकर इन पृष्ठों को छुलाता हूँ। अचानक, कोने में बैठे देवता चिल्ला उठते हैं—"ए-ए-ए की होच्छे? यह क्या हो रहा है? तेरा दिमाग खराब हो गया है क्या?"

फूट-फूटकर रोता हुआ कहता हूँ—"ठाकुर! तुम तो जानते हो—कितनी अगाध आस्था, अटूट विश्वास और दृढ़ निष्ठा के साथ मैंने ये पंक्तियाँ लिखी थीं। इन चरित्रों के निर्माण के लिए मैंने अपने हृदय का

कितना रक्त···!"

"साला। गांजाखोर, अहंकारी। बोल, तुमने लिखी थीं ये पंक्तियाँ···?···मैं-मैं-मैं करके तभी से बकरे की तरह मेंमिया रहा है और औरतों की तरह रो रहा है? तुमने लिखी थीं···?"

होश में आया—"नहीं ठाकुर। मैं कौन होता हूँ लिखनेवाला—चरित्र गढ़नेवाला? तुमने जो भी, जैसा भी लिखवाया—लिखता गया।"

"तो, फिर अपने मन से इन पंक्तियों पर कालिख क्यों पोत दिया? आग क्यों लगा रहा था? और कालिख पोतने से, आग लगाने से क्या 'अक्षर' मिट जायेंगे?···मैंने मानुष की क्या परिभाषा दी है? याद है?"

"जिसको अपने मान का होश हो—वह 'मानुष'···"

"तब? हमेशा अपने मान का होश रखो। मानुष बने रहो। रोने से कुछ नहीं होगा। यों माडर्न की रोटी और विलायती गुलगुला तुम नहीं लूट सके, इसका दुख मुझे भी है।"—ठाकुर हँसे—"अब जरा बाहर निकलकर खोजो। कहीं मिल ही जाये।"

मन का अवसाद दूर हो गया। किताबों को सिर से छुलाकर सेल्फ में रख दिया।

उस दिन सुबह। 'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' के प्रतिनिधि जनार्दन ठाकुर आये। जनार्दनजी अंग्रेजी के पत्रकार हैं। लेकिन, मुझसे हमेशा मैथिली में ही बोलते हैं। आते ही बोले—"हमर किछु प्रश्न अछि—बाढ़क सम्बन्ध में···"

"बाढ़क सम्बन्ध में?···मुझसे इस बाढ़ का क्या सम्बन्ध?"

"सम्बन्ध है।"

"जनार्दनजी! दया करके बाढ़ के बारे में कोई चर्चा नहीं। बाढ़ की बातें भी अब गंधाने लगी हैं।"

उन्होंने मेरी बात को अनसुनी करके पूछा—"पटना का क्या भविष्य है अर्थात् भविष्य क्या होगा?···हाँ, मैं जानता हूँ कि आप कोई भविष्य-ज्ञाता ज्योतिषी नहीं, रचनाकार हैं।" जनार्दनजी का मुखमण्डल गम्भीर था।

मैं कुछ देर चुप रहा। फिर कहने लगा—"बिहार की राजधानी को पटना से हटाकर फिर राजगीर ले चलिए। यदि यह सम्भव नहीं तो फिर ऐसा कीजिए कि सारे नगर के हर घर की छत पर नाव, लाइफ बेल्ट यानी किसी स्टीमर पर संकट की घड़ी में प्राणरक्षा के लिए जो-जो उपकरण रहते हैं—रखना अनिवार्य कर दीजिए···प्लास्टिक के सामान बनाने वाली कम्पनियों से छोटी-छोटी डोंगियाँ बनाने को कहिए···हर मकान के ग्राउण्ड फ्लोर के रेंट में सैकड़े पचहत्तर की कमी और ऊपर के तल्लों में थोड़ी-सी वृद्धि···जीवन बीमा निगम वालों से परामर्श करके—हर मकान-मालिक से हर महीने के भाड़े में जीवन बीमा का अनिवार्य अंश··· और पटना ही क्यों, बाढ़ से किसी भी प्रदेश का पिन्ड कभी नहीं छूटने का···।"

मैंने देखा, जनार्दनजी अपनी छोटी-सी डायरी में नोट कर रहे हैं—"अरे! आप तो सचमुच···?"

"सचमुच नहीं तो और क्या?" वे डायरी अपने पाकेट में रखकर उठ खड़े हुए।

मैंने अपना प्रण पूरा किया। बाढ़ के पानी में पैर नहीं दिया। छत के रास्ते दूसरे फ्लैट की सीढ़ियों से उतरकर—ईंटों पर पैर रखता हुआ—सड़क पर आया और रिक्शे पर अकेला बैठकर उधर ही चला जिधर से बाढ़ के जल को पहले-पहल आते देखा था···रास्ते में देखा—दीवारों पर लाल दाग लगाकर अंग्रेजी में काले रंग से 'एच० एफ० एल० 75' लिखा जा रहा है। रास्ते चलते एक युवक ने दूसरे से कहा—"एफ० एल० तो सुना था। यह एच० एफ० एल० क्या है भाई?"

कॉफी हाउस खुला देखकर प्रसन्न हुआ। लेकिन, अन्दर कदम रखते ही 'फफूंद' की गन्ध लगी तो लौटना चाहता था। देखा, सारे कॉफी हाउस में बस एकमात्र सतीश आनन्द—कला संगम नाट्य संस्था के प्राण—चुपचाप बैठे हैं। उनका चेहरा देखकर डरा—बाढ़ में निश्चय ही इनका बहुत नुकसान हुआ होगा, शायद···मुझे देखकर उनका चेहरा तनिक खिला। बोले—"आज ही, अभी ही थोड़ी देर पहले खुला है। मैं ही पहला ग्राहक हूँ और आप दूसरे···"

"दूसरे तो सत्यनारायण ही हो सकते हैं…और क्या हाल हैं? इतने उदास क्यों हैं?"

"उदास? जी, उदास नहीं चिन्तित।"

"अरे राम। कॉफी है या क्लोरोकॉफी?…कैसी चिन्ता? सार्वजनिक या व्यक्तिगत?"

"साहब, एक नया नाटक खेलने को सोचा था। वह तो अब निकट भविष्य क्या दूर भविष्य में भी…अजब है, स्टेज के लिए कोई लड़की या स्त्री मिल ही नहीं रही…"

"आपने क्या उम्मीद की थी? इस बाढ़ में कहीं से भँसती हुई आ जायेगी?" मैंने पूछा।

सतीश अप्रतिभ हुए। फिर कुछ याद करके बोले—"इधर आपकी मुलाकात 'यौनाचार्य' से नहीं हुई है? इस बाढ़ ने उनकी सारी दमित वासनाएँ…लीजिए, नाम लिया और आप प्रकट हो गये।"—सतीश ने बाहर की ओर देखकर कहा।

हमारे कॉफी हाउस के एक एडवोकेट मित्र हैं। पिछले साल हिन्दी में यौन-मनोविज्ञान की कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित करवाया है। पुस्तक प्रकाशन के बाद मित्रों ने उन्हें 'यौनाचार्य' की उपाधि प्रदान की तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। अपना परिचय देते समय वह यह कहना नहीं चूकते कि वे चार-चार बार रस्टीकेट हो चुके हैं और यह कि वे छात्रों के 'चिर नेता' हैं और ताउम्र रहेंगे।

यौनाचार्यजी ने सगर्व स्वीकार किया—"भाई! इस बाढ़ से पटना नगर और इसके नागरिकों की जो भी तबाही हुई हो—मैं तो फायदे में क्या…जो आज तक कभी नसीब नहीं— वह इस बाढ़ के प्रताप से या महिमा से कहिए तीन-तीन यंग लड़कियाँ और कई स्त्रियाँ मेरे घर में शरणार्थी होकर आयीं…सुबह में कोई चाय दे रही है तो कोई हलुआ तो कोई आमलेट तलकर ला रही है। कोई दोपहर को अपनी प्रेमकहानी कहती तो कोई रात में दो बजे तक गाना सुनाती। और मेरा बाथरूम? चलकर ज़रा सूंघ लीजिए—नहीं विश्वास हो तो—लेवेंडर की सुरभि से सदा सुरभित रहता है…अब आपको क्या बतायें?"

उस दिन ही नहीं, एक सप्ताह तक अपनी किस्मत खुलने का किस्सा लोगों को कॉफी पिला-पिलाकर सुनाते रहे। यहां तक कि दिल्ली के एक वरिष्ठ पत्रकार बाढ़ के सिलसिले में पटना आये थे। उनको भी अपना भाग्य फिरने का किस्सा सुनाने पहुँचे। होटल में मौका नहीं मिला तो हवाई अड्डे तक पहुँचकर, वक्तव्य देने के लहजे में उनसे कहा—"साहब, आदमी क्या ? इस बाढ़ में तो मछलियाँ भी 'सेक्सी' हो गयी थीं···"

मुझे उसी दिन लगा था कि योनाचार्य अब 'काम' से गये। और इन पंक्तियों के लिखते समय उनके मित्रों से तथा स्वयं उनके मुंह से सुना कि उनकी अवस्था संगीन है। सिर चकराता है और सिर के अन्दर 'वैकुअम' जैसा लगता है। आंखों के आगे सरसों के फूल नज़र आते हैं। डाक्टरों ने कोई सिरियस रोग बताया है। जिसका सम्बन्ध—नाक तथा आंख के जरिये—दिमाग से है···भगवान उनको चंगा करें।

यों, पटना शहर भी बीमार ही है। इसके एक बांह में हैजे की सूई का और दूसरी में टाइफायड के टीके का घाव हो गया है। पेट से 'टेप' करके जलोदर का पानी निकाला जा रहा है। आँखें जो कंजक्टिवाइटिस (जोय बाग्ला) से लाल हुई थीं—तरह-तरह की नकली दवाओं के प्रयोग के कारण क्षीणज्योति हो गयी हैं। कान तो एकदम चौपट ही समझिए—हियरिंग एड से भी कोई फायदा नहीं। बस, 'आइरन लंग्स' अर्थात् रिलीफ की साँस के भरोसे अस्पताल के बेड पर पड़ा हुआ किसी तरह 'हुक-हुक' कर जी रहा है।

"ॐ सर्वविघ्नानुत्सारय हुँ फट् स्वाहा···"

सूखा : १६६६ (विहार)

भूमिदर्शन की भूमिका (१)

पिछले कई वर्षों से सैकड़ों शब्द, नाम, देश, समस्याएं और समाचार मेरे लिए बेमानी हो रहे हैं, होते जा रहे हैं, उनमें—डेमोक्रेसी, चाइना, चुनाव, रेल-दुर्घटना, खाद्यान्न, भ्रष्टाचार, जनता, सत्यमेवजयते, कर्फ्यू, फायरिंग, बाढ़-फ्लड, दहाड़, सूखा-जरी-सुखाड़ जैसे नित्य के समाचारों में इस्तेमाल होने वाले शब्द भी हैं जिनके बिना आजकल किसी का काम नहीं चल सकता।

रोज़ाना अखबार के पन्नों में खोजकर निकालता हूँ—धनबाद के 'डबल-मर्डर' यानी दुहरी-हत्या अर्थात् दो बहनों के खून की रहस्यपूर्ण कहानी...किस तरह उनकी प्रेतनियाँ, सड़क से आने-जानेवाले प्रतिष्ठित और भद्र जनों की कार को रोककर अपने घाव दिखलाती हैं। दुहाई देती हैं—'बचाओ...पुलिस...इन्साफ़' और फिर लोप हो जाती हैं...मोहित मजुमदार के मुकद्दमे में मेरी ज्यादा दिलचस्पी है। इसलिए, कौन राज्य मन्त्री 'रूलिंग-ग्रुप' में और कौन 'डिसिडेंट'—यह जानने की कभी उत्कट अभिलाषाएं नहीं होतीं। इसलिए, 'हथिया-नच्छत्तर' नहीं 'फरा' और भयानक सूखे की आशंकाओं और सम्भावनाओं-भरी खबरें प्रकाशित होने लगीं तो 'फ्लड-बाढ़-दहाड़' की तरह 'ड्राउट' सूखा-सुखाड़-भुखमरी भी मेरे लिए धीरे-धीरे बेमतलब हो गये।

...इसी कारण, कलकत्ते के एक प्रसिद्ध बँगला (अंग्रेजी) दैनिक का विशेष संवाददाता—जिसको विशेष रूप से 'ड्राउट' देखने के लिए भेजा गया था—मेरी बातें सुनकर 'हतभम्ब' हो गया (हूँ ! ड्राउट देखने आये

हैं मानो छत्तर-सोनपुर का मेला देखने आये हैं।)

दीपावली के तीन दिन पहले पाँच बजे शाम से हज़ारों पटाखे हमारे शहर, यानी बिहार की राजधानी, पटने की सड़कों, गलियों, फुटपाथों, हमारे फ्लैट के मुँडेरे, गलियारे में धूम-धड़ाके और धमाके-से छूट रहे थे और मुझसे सवाल पूछा जा रहा था, "मोशाय? खावेन की?··· खाइएगा क्या? उधर गाँवों में जो कुछ देखकर आ रहा हूँ···"

मैंने बीच में ही टोककर कहा था, "आमादेर दिकेमाने आमार खेते कोसी-प्रोजेक्टेर कृपाय भालो धान होये छे।"

मेरा जवाब सुनकर 'विशेष संवाददाता मोशाय' अवाक् कुछ क्षण मेरी ओर ताकते रहे। फिर, अपनी गलती के लिए क्षमायाचना की मुद्रा बनाकर बोले, "आमि भेवेछिलाम जे आपनि हिन्दी-राइटर श्री···, सुना था, हिन्दी में एक ही 'पेन नेम' के हज़ारों आदमी होते हैं···देखछि, कथाटा सत्ती।"

उसके जाने के बाद मुझे भी अपने 'लेखक' पर अचरज मिली दया आ गयी। मेरा लेखक जो इस हद तक कुण्ठित और पतित हो गया है कि हर अहम सवाल और समस्या पर मुँह बिदकाकर एक ही बात कहता है—"सब झूठ है। बकवास है। आल फाड। स्टंट!"

आइने में अपनी काया की छाया से पूछता हूँ—"तुमने कभी कोसी-कवलित जनों, अकाल-पीड़ितों और शरणार्थियों के दुख-दर्द को भोगकर जीती-जागती छवियाँ आँकी थीं? क्या हो गया तुझे जो इस तरह 'बोतल प्रसाद' हो गया तू?"

इस सवाल के जवाब में मुझसे सवाल किया जाता है—"कौन कहता है सूखा पड़ा है? सरकार? सोशलिस्ट (प्रजा-संयुक्त)? कम्युनिस्ट? कांग्रेसी? कौन बोलता है? कोई मिनिस्टर? कोई जनता का सेवक?··· आल फाड।"

किन्तु, दूसरे ही दिन लेखकजी यानी 'बोतल प्रसाद' ने देखा कि सूखे के नाम पर राजधानी के 'बार' और सब्ज़ी बाज़ार में सुरा से लेकर बैंगन तक की कीमतें अचानक बढ़ गयी हैं तो उसका माथा ठनका, तब वह पटना की सड़कों पर 'ड्राउट' देखने निकला।

नगीना राम सब्ज़ीवाले ने हँसते हुए कहा, "सूखा नही, हुजूर, बाढ़ ! बाहर से पाँच हजार 'बाबू लोग' पटना आये हुए हैं। गर्दनीबाग, आर ब्लाक से शुरू करके भिखना पहाड़ी तक के सभी होटलों मे जाकर देखिए —एक भी कुर्सी खाली नही मिलेगी आपको।"

कल्लू अण्डेवाले ने बात में ज़रा पेंच लगाकर कहा, "ज्यादा दिन नही सर। बस, पचीस तारीख तक !...उसके बाद सभी लोग अपने-अपने घर लौट जायेंगे। भाव खुद-ब-खुद गिर जायेगा। यह कमाई तो समझिए कि बाढ़ का पानी..."

(...बाढ़। दुग्धोज्ज्वल खादी की टोपियों की बाढ़, ज्वार-भाटा। तरंग ! एक लहर इधर से जाती है, एक लहर उधर से आती है...जय हे ए-ए, जय हे-ए-ए-ए-भारत...!)

'बार' का बेरा अब्दुल सूखा जवाब देता है, "साहब ! व्हिस्की कोई भी नही। न स्काच, न देशी, न नेपाली..."

होटल के मैनेजर ने सुनाया, "तन्दूरी क्या, कोई भी चिकन नही। डेढ़ सौ मुर्गियों के आर्डर तो रोज़ 'उधर' से यानी बाहर से मिलते हैं... प्लीज़ वेट टिल टवेंटी फिफ्थ।"

(सूखा पड़ा है 'बार' मे। अकाल है, होटलो मे...पड़ गया बंगाले मे काल, मरी कंगाले से धरती—पटी कंकालो से धरती...)।

रोज़ दिल्ली अर्थात् केन्द्र से कोई-न-कोई 'अन्नदाता' उड़कर आता है 'ड्राउट' देखने। (छत्तर का मेला हो गया यह ड्राउट !) रोज राज्य का कोई-न-कोई मालिक (बड़ा, छोटा, मंझला, सँझला, पांचू, छठ, सत्तो... मालिकों का अकाल है यहां ? एक पर एक मालिक हैं) 'भयानक' और 'भीषण' बयान दे डालता है, केन्द्र के अन्नदाता कहते हैं, पहले उन चूहों का अन्त करो जो अन्न-वस्त्र को ही नही—सारे राज्य की जनता की आत्मा को कुतर रहे हैं।

अख़बारों की मोटी सुर्खियां रोज़-रोज़ एक ही बात को विभिन्न शब्दों में दुहराती हैं। राजधानी में, शहरों में दीपावलियां सजती हैं। पटाखे फूटते हैं, फुलझड़ियां छूटती हैं।...उधर, गया के गांवो मे, मुंगेर के दक्षिणी हिस्से मे, पलामू और हजारीबाग की पहाड़ियो और जगलो की धरती की

छातियाँ दरकती जाती हैं, पानी पाताल की ओर खिसकता जा रहा है। आदमी भूख से ऐंठ-ऐंठकर मरने लगते हैं।

(···सब झूठ ! जयप्रकाश नारायण नामक 'आदमी' को कोई काम तो है नहीं। अतः वह इसी तरह कभी भूदान, कभी भोटान, कभी नगालैंड, कभी कश्मीर पर बे-बात की बात करता है। अब सूखा की समस्याओं पर बात करता है और एक सर्वदलीय-सभा बुलाकर सुख-चैन से सोये हुए लोगों के सूखे हृदय में 'करुणा' का संचार करने की कोशिश कर रहा है। मगर, उसकी अपील लोगों के सिर और टोपियों के ऊपर से गुजर जाती है···इतना फ़ालतू समय और पैसे किसके पास हैं ?···चलो दिल्ली··· जय हिन्द !)

'आदमी मर रहे हैं'—खबरें आने लगीं !

दिल्ली से 'दिनमान' के सम्पादक का तार आया है। वह सूखा क्षेत्र देखने आ रहे हैं। (मानो छत्तर का मेला देखने आ रहे हैं !) क्या मैं कुछ दिन उनके साथ चल सकूँगा ? किन्तु तार पाकर मुझे तनिक भी खुशी नहीं हुई। मुझे अपनी 'अच्छी फसल' कटाने के लिए गाँव जाना है···उनके आने के पहले ही 'कट पड़ो बन्दे !'

लेकिन लाख कोशिश करके भी 'बन्दा' कट नहीं सका। 'दिनमान' सम्पादक वात्स्यायनजी ही नहीं—आ रहे हैं एक पुराने क्रान्तिकारी, कवि-उपन्यासकार और चिन्तक–अज्ञेय यानी यायावर ! सूखी धरती पर भूख से तिलमिलाकर मृत्यु से साक्षात्कार करनेवालों से साक्षात्कार करने के लिए।

भारी मन लेकर हवाई-अड्डे पर जाता हूँ। हवाई जहाज़ से करीब डेढ़ दर्जन स्थानीय असन्तुष्ट कांग्रेसी नेता उतरते हैं। सबसे बाद में अज्ञेय जी दिखलायी पड़े। राजनैतिक पहलवानों की टुकड़ी मार्च करती हुई आगे बढ़ी। मैंने वात्स्यायनजी को छूकर रोक दिया···इन्हें जाने दीजिए ! वे मुस्कराये !

मैं अपने चेहरे पर सूखे-से-सूखे हुए आदमी का मुखौटा लगाना चाहता था। किन्तु, हड़बड़ी में जो मुखौटा लगाया, वह एक अपराधी का था। झुकी हुई निगाहें और बुझा हुआ दिल !

अज्ञेय प्रसिद्ध मितभाषी हैं। किन्तु मुझे हमेशा यही लगा है कि उनका

मौन ज्यादा मुखर होता है। उन्होंने मुझसे कोई सवाल किये बिना—चुप रहकर ही—पूछना शुरू कर दिया—आप सूखा क्षेत्र में हो आये हैं? क्यों नही? लेखक क्या समाज के बाहर का प्राणी है? क्यो? ऐसी उदासीनता क्यों? तुम इस हद तक बीमार हो? क्यों? जवाब दो—क्यो?

मैं सिर झुकाकर चुप रहता हूँ। कोई जवाब नहीं दे सकी, मेरी आंखें।

भूमिदर्शन की भूमिका (२)

पटना, गया, मुंगेर, हज़ारीबाग, पलामू ज़िले के नक्शे सामने बिछे हुए हैं, पचास-साठ अथवा सौ बरस पहले आँके गये नक्शे।···मैं यह भी नहीं जानता कि पटना से जमूई कौन-सी सड़क जाती है। गया से चतरा तक जानेवाली सड़क कैसी है। मुझे नहीं मालूम कि छतरपुर किस ज़िले में पड़ता है। मैं चश्मा लगाकर भी नक्शों के नन्हे अक्षरों को नहीं पढ़ सकता। अज्ञेय नक्शा देखते समय चश्मा उतार लेते है। वह बीच-बीच में कोई सवाल करते हैं। मैं सुनकर भी नहीं सुनने का भाव दिखलाता हूँ। जवाब देते हैं पत्रकार-मित्र जितेन्द्रसिंह। सोचता हूँ, यदि आज जितेन्द्र नहीं होते तो···?

मैंने सोचा था, अज्ञेय सबसे पहले बिहार के मुख्यमन्त्री से मिलेंगे। फिर कृषिमन्त्री से। तब सरकारी हवाई जहाज़ अथवा हेलिकॉप्टर या जीप पर सवार होकर सरकार की मर्ज़ी से सूखा-क्षेत्र में जायेंगे। जहाँ-जहाँ जायेंगे, वहाँ के सरकारी अधिकारी पहले से ही उनकी यात्रा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए तत्पर और प्रस्तुत रहेंगे। किन्तु, उनकी डायरी में सबसे ऊपर जयप्रकाश नारायण का नाम था—जो एक दिन पहले पटना से गया चले गये थे। और अज्ञेय उनसे मिलने के बाद ही संकटग्रस्त क्षेत्रों में जायेंगे। अतः तुरत गया चल पड़ना उचित समझते हैं।

सोचा था, भोजन के बाद एक घण्टा विश्राम करेंगे तो अपनी भी दिवानिद्रा में कोई व्याघात नहीं होगा। दोपहर के भोजन के बाद भोजन-पान-शयनविलासी तन-मन को तनिक सुख-नींद तो चाहिए ही। किन्तु, मैं

नींद-भरी आँखों और अनमना-मन लेकर ओढ़ना-बिछावन, तहमत-तौलिया वगैरह समेटकर तहियाने लगा। और, जिसकी निगाह में संसार का सर्वश्रेष्ठ आलसी हूँ यानी 'आलस्य-श्री', 'आलस्य-भारती' और 'आलसी-विहार का प्रतीक' आदि हूँ—वह मेरी दयनीय दशा देखकर खुशी से हँस-हँसकर मरी जा रही थी। क्योंकि मेरे चेहरे पर बँगला का एक 'छड़ा' (फिकरा) स्पष्ट लिखा हुआ था—"पड़ेछि मोगलेर हाथे, 'खाना' खेते हवे साथे ···"

जितेन्द्र बिना टैक्सी के निराश वापस लौटे तो भरोसा हुआ, कम-से-कम कुछ घण्टों की मोहलत मिली। पर सवाल उठा कि अगर टैक्सी से नहीं चलना है तो गया जानेवाली गाड़ी में अब ज्यादा देर नहीं। सिर्फ बीस मिनट। मेरी राय ली जाती तो कल सुबह के पहले किसी गाड़ी से चलने का प्रोग्राम नहीं बनाता। किन्तु 'यायावर' ने तुरत कन्धे में कैमरा लटकाया—एक हाथ में अटैची और दूसरे में बास्केट···मेरा अब तक बिस्तर भी नहीं बँधा है, बैग में डाली जानेवाली चीजें चारों ओर 'छत्राकार' बिखरी हुई हैं। मैं एक पाँव में पाताबा डालकर, पाजामा में पहनाई जानेवाली डोरी खोज रहा हूँ, और, मन-ही-मन मना रहा हूँ कि यदि मेरे 'अयात्रीसुलभ संस्कारों' को यात्रा के लिए अशुभ मानकर—अथवा नाराज होकर भी—मुझे मुक्ति दे दें तो मुझे दुख नहीं होगा। (उनके जाते ही लम्बी तानकर चैन से सो रहूँगा!) एक बार ऐसा लगा कि वह चुप रहकर जो कुछ कह रहे हैं, उसका आशय है, "तो, आप आराम कीजिए। मैं चला।"

लेकिन, मुस्कराकर बोले, "मैं मदद करूँ?"

मैं चुप रहा। घर का दूसरा प्राणी मदद करने के साथ बड़बड़ा रहा था, "भाईजी तो एक बेकार का बोझ ले रहे हैं अपने साथ···"

समझनेवाले ने मुझे 'बोझा' समझकर भी 'बेकार का' नहीं समझा। (समझते तो अच्छा होता!) और मुझे लगा कि अब देर करूँगा तो दरवाजे के पास खड़ी विशाल-काया मुझे अपने दूसरे कन्धे पर लटकाकर चुपचाप चल पड़ेगी।

कार्तिक पूर्णिमा से एक दिन पहले—'छोटी नहान' का दिन। बिहार

में हर पर्व के एक दिन पहले एक छोटा पर्व मनाया जाता है, छोटी होली, छोटी दिवाली! 'नहान' का दिन अर्थात् छत्तर के मेले का दिन और पटना-गया लाइन (पी० जी० ट्रेन!) की रेलवे यात्रा! दुर्गा का नाम लेकर निकला था। स्टेशन पहुँचकर 'काली' का नाम जपने लगा···गाड़ी में कहीं भी तिल धरने की जगह नहीं। दोनों फ़र्स्ट क्लास के डिब्बों पर पुण्यार्थियों का पूर्ण अधिकार। हमें कम्पार्टमेंट के अन्दर क्या, पाँवदान पर भी पैर रखने देना नहीं चाहते थे। मुझे पन्द्रह-बीस दिन पहले की एक घटना याद आयी। आसाम मेल पर इसी तरह मेला देखनेवालों ने पूरा कब्ज़ा कर लिया था और सबसे तेज़ चलनेवाली उस गाड़ी को बरौनी से खगड़िया तक ही पहुँचने में दस घण्टे लग गये थे। चेन खींचने से लेकर घनघोर 'रोड़ेबाज़ी' तक हुई थी—जमकर। पचासों निरपराध यात्री घायल हुए थे और अन्त में 'फ़ौजी पैसेंजरों' को राइफ़ल निकालकर 'लोड' करने की ज़रूरत महसूस हुई थी···मुझे 'पटना-गया लाइन' की अपनी उन यात्राओं की याद आयी जिनमें रोड़े से लेकर रगड़-झगड़ और गालियों का मुक़ाबला करना पड़ा था···आज भी यही सारे लक्षण उपस्थित हैं। प्लेटफ़ार्म पर चहलक़दमी करता हुआ पुलिस का सिपाही हमारी कोई मदद करने में असमर्थ है। जितेन्द्र हार गये तो 'अज्ञेय' आगे बढ़ गये और अपनी दोनों भुजाओं को पसारकर भीड़ को ठेलने लगे—"आप बाहर नहीं निकलेंगे तो मैं गाड़ी को आगे नहीं बढ़ने दूंगा। चलिए···"

भीड़ में सन्नाटा छा गया। लोग हड़बड़ाकर उतरे। किन्तु भीड़ को भड़कानेवाला 'एलिमेंट' सक्रिय हुआ तो भीड़ कम्पार्टमेंट के सामने लग गयी। हमने दरवाज़ा बन्द किया और दरवाज़े पर हज़ार धक्के पड़ने लगे। खिड़कियों पर आघात होने लगे। अन्दर खड़े लोगों ने दरवाज़ा खोलकर अपने मित्रों को अन्दर बुलाना शुरू किया। मैं चुपचाप 'नाम-जाप' कर रहा था। मुझे लगा, अब 'क्लाइमेक्स' बहुत नज़दीक है। अज्ञेय टमककर फिर दरवाज़े के पास जाने लगे। मैंने जितेन्द्र की ओर देखा और जितेन्द्र दौड़कर दरवाज़े पर गये···गाड़ी खुली, लटकते हुए लोग चिल्लाने लगे—"अन्दर आने दीजिए, गिर जायेंगे।" मुझे मालूम है, अन्दर आने के बाद वे बहस शुरू करेंगे और गालियाँ बकेंगे। फिर, अगले स्टेशन पर उतरकर—

रोड़े से हमारे सिर तोड़ेंगे!…अन्दर आनेवालों ने तुरत अपना कार्यक्रम शुरू कर दिया यानी 'युद्धं देहि' की मुद्रा बनाकर बहस करने लगे। शुरू किया एक नौजवान ने। बात का सूत्र जोर-जबर्दस्ती अपने हाथ में लिया एक अधेड़ खादीधारी आदमी ने, जो अपने को किसान कहता था और हर बात को 'एज ए किसान' पेश करता था। पोलिटेक्निक स्कूल का विद्यार्थी और 'बस' का 'कण्डक्टर' (सबसे मूर्ख यह 'बस कण्डक्टर।) और एक बूढ़ा देहाती और एक किशोर—बहस के वक्ता थे।…हमारे 'सेन्स आफ़ ह्यूमर' ने वातावरण के तनाव को ढीला कर दिया और हम जीत गये। हमारी गर्दन पर सवार और बात-बात में सिर तोड़ने को तैयार 'किसान जी' कांग्रेस राज को गाली देने लगे। नेताओं को भला-बुरा कहने लगे। उनका सारा गुस्सा एक ही पदार्थ पर था—जिसे खाकर (उनके कथनानुसार) आज के नेता 'लीडरी' करते हैं या 'मुर्ग-मुसल्लम'! हर बात के बाद वह मुर्गा-मुर्गी और मुर्गी के अण्डे का जिक्र करना नहीं भूलते—हम लोगों ने लाठी खाये, जेल गये। देश को आजाद किया…अब तो एक मुर्गी का अण्डा खिला दीजिए और काम…अब तो बिना मुर्गी के…।

मैंने उनकी मुर्गी की टाँग पकड़ी यानी उनका हथियार अपने हाथ में लिया और हर बात के बाद उसका इस्तेमाल शुरू किया तो 'सिंहजी' यानी 'एज ए किसान' बोलने वाले की बत्तीसी निकल आयी। वह समझ गये कि हम उनमें से नहीं जिन पर उनका गुस्सा है। व्यंग्य-विनोद का जादू चल गया। जो हमारा सिर तोड़ने आये थे—उतरते समय मुस्कराकर नमस्कार करके उतरे। जो नौजवान अपने स्टेशन पर उतरकर हम पर रोड़ा फेंकता—वह जहानाबाद स्टेशन पर उतरकर हमारे लिए चायवाले को बुलाने गया।

कहते हैं, यात्रा शुभ हो तो पद-पद पर संयोग भी बढ़िया जुटता जाता है। गया स्टेशन से हमें बुनियादगंज मुहल्ले में—जे० पी० के पड़ाव पर जाना था। प्लेटफार्म पर पाँव रखते ही मेरी एक पुराने साथी पर नजर पड़ी, जो रेलवे कर्मचारी है। जब कभी गया स्टेशन पर पहुँचा हूँ, उससे मुलाकात हो गयी है और हर बार वह पुराना 'कामरेड' (रेलवे यूनियन का!) मेरे काम आया है। इस बार, उसकी नजर बचाकर, कतराकर

एक ओर से गुज़र जाना चाहता था। किन्तु, उसने देख लिया। सलाम का 'चलता-फिरता जवाब' देकर आगे बढ़ जाना चाहा, मगर उसने हाथ थाम लिया—"इस तरह खब्तुलहवास···कहाँ···जे० पी० से मिलने ? यार, कहाँ जा रहे हो ? जे० पी० अभी स्टेशन आ रहे हैं। सच कहता हूँ, उनकी गाड़ी लगी हुई है···एडिटर साहब को रोको; नाहक कहाँ परेशान होने जायेंगे ? बनारस जा रहे हैं जे० पी०···"

मैं दौड़कर स्टेशन के बाहर गया। हमारा सामान टैक्सी के मुंडेरे पर रखा जा चुका था। वे हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे।

मैंने यह सूचना दी। सामान उतार लिया गया। जितेन्द्र ने बुनियादगंज टेलिफ़ोन करके पता लगाया, बात सच थी। वह प्लेटफ़ार्म की ओर गये और हड़बड़ाये लौटे—"बुला रहे हैं आप लोगों को। गाड़ी खुल रही है···"

गाड़ी और प्लेटफ़ार्म के आखिरी छोर तक हम दौड़ गये। दूर से ही देखा—एक कम्पार्टमेंट के दरवाज़े के फ्रेम में जड़ा-सा एक व्यक्ति खड़ा है। मद्धिम रोशनी में भी चेहरे को एक प्रसन्न मुस्कान आलोकित कर रही है—'कब आये ?···मैं तो अभी बनारस जा रहा हूँ, तीस तारीख को झुमरी तिलैया में रहूँगा···उसके बाद ? दो-तीन-चार लगातार पटना।"

मुझे देखकर हँसकर बोले—"अच्छा···तो आप भी हैं।"

मैं चुपचाप मुस्कराता रहा। जवाब दिया जितेन्द्र ने हाथ जोड़कर—"जी ! हिन्दी के दो···।"

जयप्रकाश जी ने गया, जमुई, हज़ारीबाग़ और पलामू के कई इलाकों और गांवों के नाम बताकर कहा—"वहाँ ज़रूर जाइए···हाँ, वह इलाका भी सबसे ज़्यादा 'एफ़ेक्टेड' है···वहाँ तो पीने को पानी भी नहीं। वहाँ ज़रूर जाइए···"

गाड़ी खुली तो मैंने पढ़ा, जे० पी० के ओठों पर हमारे लिए यह सन्देश स्पष्ट अंकित था : नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्, कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशम्मृतको यथा···

एक नयी (प्राइवेट) टैक्सी लेकर तीन अपटूडेट जवान सरदार किसी गाँठ और परिवार के पूरे हिन्दू या बौद्ध पुण्यार्थी की ताक में घात लगाकर

बैठे थे। हमें देखकर उनके दिमाग में कोई बात नहीं आ रही थी। एक मेरे लम्बे केशों की ओर देखता, दूसरा अज्ञेय की दाढ़ी की ओर और तीसरा जितेन्द्र के गोरे एवं गोल मुखमण्डल को। इसीलिए, बुनियादगंज मुहल्ले तक जाने का भाड़ा उन्होंने हमसे 'फ़कत' बीस रुपये माँगा था। और, लौटकर जब बुनियादगंज के बदले 'सर्किट हाउस' पहुँचाने का किराया पूछा तो वे अवाक् होकर एक-दूसरे को देखने लगे।

अज्ञेय को चाय से प्रीति नहीं। किन्तु, उन्होंने खानसामा को बुलाकर मेरे लिए 'बेड-टी' का आर्डर देते हुए मुझसे समय पूछा तो मुझे लगा कि मैं सचमुच इनका बेकार का बोझ हूँ, मिनमिनाकर जवाब दिया—"साढ़े छह बजे हैं!" (ईमान की बात है, घर में साढ़े सात से पहले कभी नहीं···)

···अज्ञेय आज तक 'बोधगया' कभी नहीं गये, बोधि का दर्शन नहीं किया। फिर कहाँ पायी करुणा?···मैं भी बोधगया कभी नहीं गया··· बोधगया के रास्ते के गाँव संकटग्रस्त हैं। बौद्ध धर्म स्वीकार करता है कि दुःख है और इतना ही पर्याप्त है कि हम दुःख से मुक्ति पा सकते हैं। सुख पायेंगे या नहीं, हम नहीं जानते···बौद्ध संसार से परे कोई वस्तु नहीं मानते। बुद्ध ईश्वर के विषय में पूर्णतया अज्ञेयवादी हैं, किन्तु हमारे धर्म में ईश्वर का हर जगह उपदेश देते हैं—सगुण-निर्गुण दोनों का···

मैं रामकृष्ण का स्मरण करता हूँ···देवघर में भूखे-नंगे सन्थालों को देखकर, काशी-यात्रा स्थगित करके बैठे हैं—"पहले इन्हें भरपेट भोजन दो···चूल्हे में जाय तुम्हारी काशी की गंगा···मैं तीर्थ करने नहीं जाता··· इन्हें भरपेट खाने दो, ये ही शिव हैं। ये ही नारायण···"

भूमिदर्शन की भूमिका (३)

खानसामा 'बेड टी' लेकर जिस समय आया—असली नींद का समय वही था। ऐसी नींद कि आँखें मूंदे रहिए और फिर भी सबकुछ देखिए-सुनिए।···अन्दर से दरवाज़ा खोला गया। खानसामा आकर चला गया। दो-तीन मिनट के बाद चम्मच और प्यालियों के टकराने की तुनुक-टुन-टुन आवाज़ें हुईं। और तब समझा कि 'बेड टी' का एक अर्थ 'जागिये कृपानिधान' भी होता है।

इस बार भी गया आकर यहाँ के प्रसिद्ध तिलकुट की, देव के मगही पान, गया की ठुमरी और यहाँ के साहित्यिक मित्रों की यादें आयीं। ऐसी सुहावनी सुबह में···नींबू-चाय पीते हुए···गया के सांस्कृतिक पक्ष पर कोई समाजशास्त्रीय 'गप-सप' शुरू करके सूरज उगाया जा सकता था। किन्तु, 'यायावर' अपने कैमरे के लेंस, फिल्टर और ज़ूम का हिसाब-किताब बैठाने में व्यस्त थे, चुपचाप···जिसका मतलब साफ था—'जागिए ही नहीं। तैयार हो जाइए कृपानिधान।'

हम लोग अभी तैयार भी नहीं हो पाये थे कि बरामदे पर कई व्यक्तियों के पग एवं पादुका-ध्वनि सुनायी पड़ी। झाँककर देखा : रात के कथाकार-भाई के साथ और भी कई साहित्यिक-मित्र ! परिचय और चायपान के साथ-साथ बातें शुरू हुईं। लेकिन, कविता और कहानी-उपन्यास पर नहीं, सूखा और भुखमरी से सम्बन्धित समस्याओं पर ही। उन्होंने जो देखा-सुना और अनुभव किया है···एक-एक कर सुनाया। उन गाँवों के नाम लिखाये जहाँ की हालत बदतर है। वहाँ पहुँचने के रास्ते

बनवाये। और हमारी तात्कालिक और जटिल समस्या उन्हीं के सफल उद्योग से हल हुई। दोस्तों ने न जाने कहाँ से ढूँढकर, एक ऐसे मस्तमौला 'टैक्सी-एजेन्ट' को 'ऊपर' किया जिसको देखते ही मुझे लगा, इस आदमी से पुरानी जान-पहचान है। उसके गले की आवाज सुनकर, बातें करने का ढंग देखकर एकाएक पहचाना…यह तो वही टैक्सीवाला है जिसके नाम का तुक, मेरे नाम से मिलाकर बम्बई से आये हुए 'फ़िल्म यूनिट' के लोग चुटकी लेते थे। मैंने कहा—"तुम्हारी गाडी पर हम कोयलबर की ओर, देहात मे गये थे। तुम्हारा नाम…रामेश्वर या कोई ईश्वर…"

"बस, बस। अब हमको भी याद हो गया। तभी से हमहूँ यही सोच रहे थे कि…। नाम मेरा कौलेश्वर है, जी।…बस अब समझ गया।…आप जितना दे देंगे…मंजूर होगा हमको। नवादा तक ही क्यों, एक ही दिन के लिए क्यों? दो-तीन-चार-पाँच जितना दिन राखिए।…मगर, गाड़ी जब छोडिएगा और जहाँ से भी छोडिएगा…ड्राइवर के हाथ मेरे नाम 'दू-कलम' खत लिखकर जरूर भेज दीजिएगा। मेरे पास बहुत-से बाबू लोगों और 'फौरेन' के साहब लोगो के सिर्टिफिकेट है।" उसने कहा कि उसका ड्राइवर एकदम 'सूधा' लडका है। (सीधा और सूधा मे बहुत फ़र्क़ है।) कोई नशा नही, कोई ऐब नही। साथ रहेगा, देखिएगा ही। और अपनी ही गाडी समझिएगा।

'यायावर' गाड़ी को नजदीक से देख आये। रात मे स्टेशन पर कई जरा-जीर्ण टैक्सियों की दुरवस्था वे देख चुके थे।…गाडी की अवस्था अच्छी है।

प्रोग्राम बना, सबसे पहले बोधगया का। कवि-मित्र के कथनानुसार बोधगया के रास्ते में ही कोयला-जली धरती की पहली झलक मिल जायेगी।…साहित्यिक मित्रगण कम-से-कम मन्दिर और बोधि के दर्शन के समय अज्ञेय के संग-संग रहना चाहते हैं। वे 'टूरिस्ट ब्यूरो' की गाडी लेकर बोधगया की ओर चल पड़े।

बोधगया जाने के पहले स्थानीय किसी अधिकारी से सरकारी लेखा-जोखा ले लेना उचित समझा गया। हम ए डी. एम. के बंगले पर पहुँचे। युवक हाकिम ने हमे बैठाकर अपने रिलीफ अफसर के सहयोग से बीस-

पच्चीस मिनट में—"हमें पूर्ण विश्वास है कि इस लड़ाई में हमारी ही जीत होगी।"

बातचीत के सिलसिले में मैंने शुरू से ही लक्ष्य किया था, ए. डी. एम. साहब किसी भी अंग्रेज़ी शब्द और वाक्य के पहले उसका हिन्दीरूप बोलते थे···कठिन श्रम-योजना, लघु सिंचाई अनाज-वितरण, अभियान, निर्माण ···हमें मालूम था कि युवक और नये अफसर लोग जन-सम्पर्क के महत्त्व को समझते हैं। जानते हैं, किस वर्ग के लोगों से कैसी बातें करनी चाहिए! लेकिन, बाद में जब पता चला कि वह बंगाली है तो अचरज हुआ! निष्ठा पूर्वक हिन्दी बोल रहे थे···'किस' वर्ग के लोगों से 'कैसी' बातें ही नहीं··· किस 'भाषा' में बातें करनी चाहिएँ, ए. डी. एम. यह भी जानते हैं।

बोधगया में मन्दिर और बोधि का दर्शन हमने सामूहिक रूप से किया। मन्दिर के प्रांगण में घूमते हुए मुझे रह-रहकर···रिपुंजय, बिम्बिसार, अजातशत्रु, शिशुनाग, महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक, शून्य-पुराण और कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो की याद आयी···राहुलजी, भदन्त और नागार्जुन की याद आयी।···वर्षों पहले पढ़ी बातें, 'वज्रयान' और 'व्रजत्व' की व्याख्या: व्रजत्व लाभ करना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। मनुष्य का अधिकार ही सबसे बड़ा है। मनुष्य ही सत्य है, और सब मिथ्या।···महासुख ही महाप्रभु, महाशून्य, वही करुणा, वही सर्व-देवता। ···एक्क न किज्जई मन्त न तन्त, निअ घरनी लई केलि करन्त। निअ घर घरनी जाव न मज्जई, ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जई···!!

साहित्यिक मित्रों के प्रसन्न-विदा-सम्भाषण का सम्बल लेकर हम आगे बढ़े। और यहीं से हमारी असली यात्रा शुरू हुई! 'यायावर' जो अब तक पीछेवाली 'सीट' पर थे, सामने ड्राइवर के पास अपने 'लटकन-छटकन' के साथ जा बैठे। मेरे ठीक सामने। किन्तु, मैं उनकी 'पीठ' नहीं···देख रहा था उनका सिर। जो स्वयंचालित यन्त्र की तरह, काँच के 'वाइपर' की तरह···बायें से दाहिने और दाहिने से बायें घूम रहा था। टोह लेती हुई आँखें। ड्राइवर के बायें कन्धे पर उनकी उँगली पड़ी···ड्राइवर गणेश ने 'ब्रेक' लिया।···'यायावर' उतर पड़े। घास 'गढ़' कर यानी खोदकर लौटती हुई औरतें···सिर पर टोकरियाँ। धान का बोझा नहीं, सूखी-

भुनाई घास ! साथ मे वह नन्ही बच्ची…क्लिक ! अब एक 'कलर' चाहिए, शायद। गाड़ी से दूसरा कैमरा लेकर 'यायावर' को दौड़ना पड़ा।…मगध की छोरियाँ कुछ गोरियाँ (कुछ कारियाँ भी !) कुछ भोरियाँ…बाजरे की कलगी नहीं, बिछली-घास भी नहीं…सिर पर घास की टोकरियाँ लेकर तेजी से चली जा रही हैं। 'यायावर' ने कैमरे का बटन दबाना चाहा कि सबसे अगली (जो पहले भी बच निकली थी !) मुँह पर कपड़ा डालकर अचानक इस तरह 'फिरकी' की तरह मुड़ गयी कि 'यायावर' हार कर भी हँस पड़े।

ऐसा लगता है, बोधगया जाते समय ही 'यायावर' की दृष्टि मे कई 'ऑबजेक्ट' या 'सबजेक्ट' पड़ चुके थे। दो फ़र्लांग के बाद, जहाँ से हमारी गाड़ी फिर गया शहर की ओर मुड़ी…ड्राइवर गणेश के कन्धे को छूकर गाडी रोकी गयी। देखा—वहाँ, एक खेत मे काला-कलूटा, दुबला-पतला, भूखा-प्यासा, थका-हारा बूढा धान के सूखे पौधो को हँसिया से काट रहा है, यदि हमारी 'यात्रा' कण्डक्टेड किस्म की होती तो मैं यह कदापि विश्वास नहीं करता कि यह बूढा सचमुच कोई बूढा है जो संकट से लड रहा है—उसने कई ऐसे 'पोज' दिये जो कुशल-सफल कोई चरित्र-अभिनेता भी नही दे सकेंगे। भगवान् सफल नाटककार ही नही, 'डाइरेक्टर' भी है। (देखिए दिनमान, ६ दिसम्बर, पृ० २४-२७)।

गया शहर छोड़कर हम नवादा की ओर जा रहे हैं। ग्राम गुरुचक और बुद्धगेरे के नाम पढ़कर हमे गाँवों और जगहों के नामो पर एक समाज-शास्त्रीय 'गप्प' शुरू करने का अवसर मिला : इस रास्ते से बुद्ध गये होंगे। और, ग्राम गुरुचक्र मे 'श्रीचक्र' की तरह कोई अनुष्ठान सम्पन्न हुआ होगा। वात्स्यायनजी भी मुस्कुराकर इस बातचीत मे शरीक होना चाहते थे कि अचानक सड़क के दोनों ओर का भू-भाग—लैंडस्केप—सपाट, सूखा-भा-भा ! !—यह क्या ? जहाँ तक दृष्टि जाती है—एक तृण नहीं। कही एक तिनका भी हरा नही। बंजर-परती परती नही…धान के खेत हजारों एकड। प्रकृति के प्रकोप की मारी धरती !—यह क्या देख रहा हूँ ? यह किसका शाप है ?…किसका पाप…?

हँसुआ पहुँचते-पहुँचते बोतलप्रसाद यानी लेखकजी न जाने कहाँ हवा

में 'विला' गये। उनकी जगह पर रह गया—बिहार के एक गांव का एक किसान का बेटा, जो सिर्फ़ यही सोच रहा है कि यदि उसके ज़िले में, इलाके में ऐसा सूखा पड़ा होता तो उसकी ज़मीन, उसके गांव, गाय-बैल, औरत-बच्चे ऐसे ही···इसी तरह···।

गाँवों के आस-पास थोड़ी हरियाली देखकर आंखों को ही नहीं, जलते हुए दिल को भी राहत मिलती है।···ज़िन्दगी गाँवों को अगोर कर सिमटी-सिकुडी पड़ी हुई है।

अब हमारी आंखें और कुछ नहीं देखतीं···सिर्फ़ सूखा और अकाल! ···आने-जानेवालो की गठरियों में क्या है—गेहूँ, मकई, बाजरा? गाड़ियों पर क्या है, बोरे में? अनाज या चारा?···अन्न के बोरे नहीं, सूखा पुआल। दुकानों के सामने क्या है—मकई? पंजाबी मकई?···इधर कहाँ जा रहे हैं—सभी लोग? वह बूढ़ी बकरी लेकर कहाँ जा रही है? ज़रूर बेचने जा रही होगी।···गांवों के आस-पास बच्चे खेलते-भागते तो हैं? वह छोटा-सा लड़का हमारी गाड़ी को देखकर, हाथ हिलाकर 'हो-य-य'-कहकर खुश तो हुआ!···वह लड़की हमारे गाँव की सुरती की तरह लगती है। यह बूढ़ा नयी लालटेन ख़रीदकर ले जा रहा है।···उस गांव में निश्चय ही किसी की शादी हुई है या गौना हुआ है, रँगे हुए कपड़े सूख रहे हैं। शादी या गौने में 'भोज' हुआ होगा? बच्चे पढ़ने जा रहे हैं? क्या खाकर जा रहे हैं? स्कूल में मुफ़्त दूध मिलता होगा? हाल ही, थोड़ी-सी वर्षा हुई है—इससे कुछ फ़ायदा तो हुआ होगा! लेकिन, कहाँ? देखता हूँ कहूँ—हाँ, वहाँ···वहाँ हरियाली की पतली-सी रेखा! रबी का रंग···दूर-दूर खेतों में लोग दिखायी पड़ते हैं, हल जोतते हैं, कुदाल चलाते हुए···वहाँ रहा 'एण्टिएयरक्राफ्ट'···कच्चे कुंएँ की डोल के लम्बे-लम्बे बांस—सूखी धरती और आसमान की पृष्ठभूमि में ऊपर-नीचे गिरते हुए लट्ठे—लोग लड़ रहे हैं। वहाँ भी—वहाँ कुछ खोदा जा रहा है—आहर, पैन या कूप? कुछ भी हो···वे लड़ रहे हैं।···

यह, एकदम क़रीब ही कच्चे कूप पर तीन लट्ठे चल रहे हैं। डोरियों की लम्बाई से जल के तल—वाटर-लेवल—का पता चलता है—सचमुच पानी पाताल की ओर भागा जा रहा है।···तीन जन पानी भर रहे हैं,

ए, क'पंन' ठीक कर रहा है। एक हल जोत रहा है। लड़ रहे हैं, सभी ! ··· ड्राइवर के कन्धे पर अब उँगली रखने की जरूरत नही होती—एक 'हुँ' पर ही गाड़ी रोक देता है।

हल जोतनेवाले भाई जी से नाम पूछा तो उसने सुनकर भी कोई जवाब देने की जरूरत नहीं समझी ! (सडक से गुजरनेवाले हर आदमी के सवालों का जवाब देने लगे तो वह खेत कब जोतेगा ?)। बैलों को एक भद्दी गाली देकर हांकते हुए उसने हमें भी अपने हाथ के 'पैने' से हाँकने की कोशिश की। हम हांके नही गये और उसके काम मे बाधा डाले बिना उस की प्रतीक्षा करने लगे। बस, दो मिनट में ही उसका हल खेत के उस किनारे से इस किनारे की मेड तक 'रेह' फाड़ता हुआ करीब आ जाएगा—और क़रीब—'तोहर नाम की हो भाय ?'—नाम ? नाम हमर—जागो ! —क्लिक ! ···जागो ने अपनी दुलहिन को—जो खेत के उस मेंड़ के पास खड़ी थी—इशारे से कुछ कहा। उसकी 'दुलहिनियाँ' पेड़ की आड़ में चली गयी।

रेपुरा-सिरसा गांव के इस हलवाहे ने अपना नाम 'जागो' बतलाकर हमारे सभी सवालों का एक ही जवाब दे दिया था। उधर, खेतों में काम करनेवालों के हाथ रुके नहीं। एक आदमी हमारे पास आया—हाथ की मिट्टी झाड़ता हुआ। हमें देखकर मुस्कराया। फिर पूछा—'क्या देखने आये हो ? यह सूखा ? ···ऐसा कभी नहीं हुआ—लेकिन, हम लोग लड़ रहे हैं। थोड़ा-सा पानी पड़ा है। और बाकी कूप-कुआँ से—जहाँ तक हो सके आदमी जान रहते तो हिम्मत नही हारेगा।··· अब, भगवान् की मर्जी।···अच्छा तो—परनाम !'

"यायावर' फोल्डर खोलकर नक्शा देखते हैं। पूछते है—'क्या नाम बताया था उस गांव का ? ···आप ने लिखा था, हाँ, कोसला ! हँसुआ से राजगिर रोड की ओर मुड़कर छह माइल पर है कोसला गांव। उसके बाद मियाँबीघा···उससे पूरब कछुआरा···।

'यायावर' पूछते हैं—'कछुआरा या कहुआरा ?'—हाँ, कहुआरा ! कवि-कथाकार-आलोचक-पत्रकार मित्रों ने उन गांवों के नाम लिखवाये हैं जहाँ भूमिहीन-जनों की—खेत-मजदूरों की 'बस्तियाँ' हैं !

'यायावर' हँसुआ पहुँचकर बायीं ओर गाड़ी मोड़ने को कहते हैं—"राजगिर जानेवाली सड़क यही है…।"

रास्ते में, भेलुवा गाँव के खेतों में कुछ कम उम्र के लड़के भी काम करते हुए दिखलायी पड़े। कूप खोदा जा रहा है।…वृजनन्दन सिंह, विपिन बिहारी शर्मा, विजेन्दर, विजयकुमार और लटना। मुसहर का नंग-धड़ंग बालक।…हम जब गाड़ी की ओर लौट रहे थे, तब सुना विजेन्दर या विजयकुमार हँस-हँसकर कह रहा था—"सार ! लटनो के फ़ोटो खिंचा गेलइ। फ़ोटो में सार लँगटे ठाड़ रहते…?"

"कोसला और कितना दूर ?" हर आनेवाले राही से पूछते हैं हम।

"बस, आगे।…डेढ़-दू कोस।"…हर जवाब देनेवाला जवाब देकर खड़ा हो जाता है और बहुत देर तक हमारी गाड़ी की ओर अचरज से ताकता रहता है। (अपूर्ण)

भूमि-दर्शन की भूमिका (४)

पक्की सडक से उतरकर, कुछ दूर तक 'कच्ची' पर गाड़ी जहां तक सकी—गयी। हम गाडी से उतर पड़े। पगडण्डी के दोनों ग्रोर सूखी री-झारी' की क्यारियां—जंगली 'भुटके' का साग भी नहो ! मिट्टी के टे-छोटे घर, उजड़े मघ···उजड़े झोपड़े···हवा मे श्मशान-जैसी 'चिड़ा-' गन्ध···छप्पर पर सूखती चिरकुट-कथरी···फूटे हुए मिट्टी के बर्तन-सन—कुत्ते का डोलता ग्रोर हांफता हुग्रा एक कंकाल बिना बोले-भूंके क ग्रोर चला जाता है। एक माता ग्रपने बच्चे को गोदी में लेकर ग्रा रही हमे देखकर ठिठक गयी। उसका बच्चा ग्रवाक्-उदास ग्रांखों से हमारी र देखता रहता है। मां मुंह फेर लेती है। काले-काले होंठो के बीच, फेद दांतो पर बिजली-सी कौंध गयी—मैंने 'मूलमन्त्र' जपना शुरू किया।

हम गांव के मध्य-भाग मे पहुंचे। एक मिट्टी की गिरी-पड़ी दीवार के स एक 'सुनखुन'—बूढ़ी बैठी थी हमे देखते ही बड़बडाने लगी। क्रोध से सके नथुने के ग्रास-पास की सिकुडी-सिमटी चमडी थर-थर कांपने लगी —उसकी घुडकती ग्रांखें ग्रोर टूटी दन्त-पंक्तियां···मैं मन ही मन ालि का सहस्र नाम' जपने लगा—घोररूपा, घोरदंष्ट्रा, घोरा, घोरतरा, ुमा ··· कोटराक्षी ··· बहुभाषिणी··· प्रचण्डा··· चण्डी···चण्डवेगिनी, क्षिणी, योगिनी, जरा, राक्षसी, डाकिनी, वेदमयी, वेदविभूषणा···निष्ठुर-र्दिनी···मां···! !

एक झोपडे से झांकती हैं—एक जोडी गुस्से से भरी तेज ग्रांखें—क सात-ग्राठ साल की बच्ची की। उसकी ग्रधेड़ मां हड़बडाकर उठ

बैठती है, कपड़े से अपनी देह ढंक ली है। ग़ुस्से में कुछ बुदबुदाती है। दूसरे तीसरे फिर चौथे झोपड़े के प्राणी भी कुनमुनाकर निकलते हैं—बच्चे, बूढ़ियाँ, अधेड़ और जवान औरतें। मर्द एक भी नहीं—एक नंग-धड़ंग, चित्ती कौड़ियों जैसी आँखोंवाले, दुबले-पतले-पीले बीमार बालक के सिवा !

हममें से कोई भी 'मगही' बोलना नहीं जानता। लेकिन मेरा विश्वास है कि जो थोड़ी-सी भी मैथिली या बँगला अथवा भोजपुरी—यहाँ तक कि ठेठ हिन्दी—बोल ले सकते हैं, वे समय पड़ने पर 'मगही' बोल-समझ सकते हैं। बोली के 'लय' को पकड़कर मैं न जाने कौन-सी 'भाषा' बोलने लगता हूँ। मगही जाननेवाले इसे शुद्ध मगही नहीं मानें, समझ सब-कुछ लेंगे।

मैं बोला : "गाँव में कोनो मरद-पुरुखवन केर पता न है ! कहाँ गेल हो, ई सब ?"

"जइते कहाँ ? कमावे कोड़े ला।"—तुरत जवाब मिला।

"चुल्हवा में की पक्कत हलै ? धुँइयाँ देखैहियेक्।"

"पक्के के की है जे पकतई ! लड़कोरिया लेल गोइठवा में अगिया सुलगत हय—ओकरे धुंइयाँ···।"

"पक्के के कुछ नअ हउ—त ई बचवा सब की खइतउ ? की गे—तोर की नाम हो ? बोल ना, लजावे है काहे ? ई लइका केक्कर है ? ···बीमार है ? ओ ? ···भुक्खल है—खाये बिना एकर एइसन दसा है···ओ···।"

—मेरी बातचीत सुनकर तनाव कम हुआ। मुझे लगा, चारों ओर तनी हुई कमानियाँ अचानक ढीली हो गयीं। वे क़रीब आयीं, आने लगीं। आध दर्जन से अधिक भूखी माताओं के बीच मैंने अनुभव किया—गाँव की दादी, फूफी, काकी, मौसी चारों ओर से दौड़कर आयी हैं—मेरे आने की खबर सुनकर—बाल-बच्चों को लेकर !

"पांच जन केर मज़दूरी—पांच मुट्ठी एहे खेसारी—देखऽ !"

"खसरियो निपट्ट घुनायेल—से देखऽ ! !"

"मलिकवन के कौन फिकिर ? घर में अनाज-पानी भरल है।"

"हमनिये के उपजायेल, ओसायल-बरायल और घर में संइतल अन-

जवा—देखल अनजवा कहाँ चल जइतै, भैया ?"

"अपने बिजली के कुइयाँ खना रहलन हैं···।"

"गरीबन के देखे वाला केयो नहीं।"

"सात दिन केर लड़कोरिया के एह खेसारी के घाठा ? हे परमेसर, एसन कब्भी न देखलो।"

"भाइये के ना खाएला मिलतइ तऽ बचवा जीयतय कैसे ?"

"दुधवे न होइ है···।"

"कीप ऑन टाकिंग···।"—'यायावर' अपने कैमरे के 'व्यूफाइण्डर' में देखते हुए कहते हैं।

"तोहर की नाम हो गे···?"—मैं पूछता हूँ उस तेज और गुस्से-भरी आँखोंवाली सात-आठ साल की लड़की से, जो अपनी बेटी-जैसी लगती है।

"बोल ने गे। बता दहिक् ने गे, जसोधिया।"

"जसोधा।"

"वाः जसोदा माई···।" जितेन्द्र कहते हैं।

सूखे मुखड़ों पर मुस्कराहट खेल गयी। मैं यशोदा का हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचता हूँ। वह नाराज और कुछ डरी-सी (ठीक अपनी बेटी-जैसी !) मुँह से सिर्फ 'बक्-बक्' उच्चारण करके—घुड़कती हुई निगाह से देखती है। सौरघर से झाँककर देखती है—एक सूखी, पीली, युवती-माता। चिथड़े में लिपटे हुए शिशु की ओर दिखलाकर अपनी बहिन से हँस कर कहती है—"ई अकलवा के भी छापी उतरवा दे···।"

अकाल और सूखा में जन्मे हुए बच्चों के सही नाम 'अकालू' और 'सुखाड़ी' नहीं तो और क्या होंगे ?

पूछता हूँ—"अकलवा केर छट्ठी कहिया भेलय ?"

"कल हो त।"

"कीप ऑन टाकिंग···।"

"अकलवा के महतरिया केर की नाम ?"

"बच्चा देवी।"

"अकलवा के ई मौसी है न ? एकर की नाम ?"

"कलेसरी देवी।"

"भात खइला कतेक दिन भेलउ ?"

इस सवाल पर सभी हँस पड़ीं। एक बोली : ऐ-हे-ए ......

"आसिने में भात खँलिए...।"

"तोहर की नाम हो रे बबुआ ?"

"पिनोदपा...।"—चित्ती-कौड़ी सी आँखोंवाला बीमार बालक 'चें-चें'—कर बोला।

"विनोदवा नाम है।"

"बिनोदवा केर बाप कहाँ ?"

"कलकत्ता में बहनोय बिजली कम्पनी में काज करत हइ ओकरे लग...।"

"कौनो सरकारी 'कार्ड-उर्ड' भैटलै है केकरों ई गांव में ? लाल रंग केर 'काट'...?"

इस सवाल पर वे फिर हँसीं। इस बार शुष्क हँसी—'कहाँ मिलल है 'कटवा' और 'कटवा' भेटओ करतय त दुकनवाँ में अनाज नहि...।"

"मलिकवन के करेजा में तनिको दया-धरम नहि।"

"जेकरा खातिर बाप-दादा से लेकर हमर लइका-पोता हड्डी गला के राँगा कइलक—ओकरा सबके नजर में पानी नहि।"

मालिक-टोले का एक आदमी बहुत देर तक चुपचाप गप सुन रहा था। मौका मिलते ही बोल उठा : "अरे! आदमी को खिलानेवाला कौन बाप का बेटा जनम लिया है। भगवान् जिसको चाहें खिलावें चाहे...!

उसकी बात पूरी नहीं हो पायी। बिनोदवा की माँ बोली : "अरे, भगवान्...भगवान मालिकवने सब के ओर...नहित भगवानो आन्हर है कि बहिर...हाय रे...एसन अनियाव ? तीन-तीन दिन पर हमन के एकगो मड़ुओ के रोटी न मिले और हुन कर हवेली में पुरनमासी के सतनरैनजी के कथा में पूड़ी-बुँदिया केर जेवार...और रूआब ऐसन कि बोलो मत। चोरी में पकड़ा देगा। डकैती में फँसा देगा। जेहल में देगा।'...जेहल में देगा, त उहे दे दो। जेलवा में खाये के त मिलतई ?...हः हः, गरीब के देखेवाला

को-य-न-ही···।"

"ठीक बात।"—जितेन्द्र ने आँख मूंदे, सिर झुकाये कहा।

"मलिकवन के घर हैजा-फौती भइमो···।"

मैं सिहर पड़ा, इस शाप से! जितेन्द्र ने भी सिर हिलाकर 'हुंहु' किया। बूढ़ी रुक गयी—"पेटवा जरै है त मुंह से गरिया निकसय है।"

"थारियो—लोटवो बेचलइए, बकरी-बकरा सब···।"

"ई जाड़ा त केतना के···।"

"अंगिया जरतय कइसे?"

"लकड़ियो-जलावनो सब मलिकवने के···।"

"आग लागो हुनकर···।"

'विनोदवा। इधर आ। यहाँ सामने···।"

'यायावर' के कैमरे को उसकी आँखें छेद देंगी—ऐसा लगा। रोशनी एकदम कम हो गयी थी।···फ्लैश चमका तो विनोदवा के चेहरे पर आतंक की एक हलकी झलक देखने को मिली, जिसे देखकर सभी हँस पड़े।

"जशोदा माई? विनोदवा···।" इससे आगे क्या कहूँ? क्या कहना चाहिए? कह दूँ—जाकर खाना भेज दूंगा। दूध भेज दूंगा? दवा भेज दूंगा? क्या कह दूं? हम यहाँ क्यों आये? यह क्या देखा?

अज्ञेय अब चुपचाप खड़े हैं। जितेन्द्र का मुंह एकदम लाल हो गया है। मैं 'विदा' मांगने के लिए शब्द ढूंढ रहा हूँ—"तब?···अब हम सब चलित हैं। फेर आयेब···।"

"अच्छा त—परनाम!···परनाम!!···परनाम!!!"

हम न जाने कहाँ आये थे!····"इनफेरनो? नरक में? या 'पारा-डिसो' में यानी स्वर्ग में? हम कौन हैं? यह कौन 'लोक' था? यह कौन-सा युग है? हम कहाँ हैं?

उलटकर देखा: सभी एकटक हमारी ओर देख रही थी···गाँव से 'विदाई' के दिन गाँव के हर टोले की औरतें—गाँव के आदमी को इसी तरह खड़ी होकर देखती हैं। न हाथ हिलाती हैं और न रूमाल।···चित्ती कौड़ी जैसी आँखोंवाला दुबला-पतला भूखा विनोदवा—भूखी जशोदा, भूखी बच्चीदेवी, दाने को तरसती कलेसरी और सूखी माँ की छाती को

चूसता हुआ—सात दिन का शिशु—अकलवा !···इनसे मैंने क्यों कह दिया कि फिर आऊँगा ?

मैं कोसला गाँव फिर कभी नहीं आना चाहता। कभी नहीं आऊँगा, यहाँ ! क्योंकि जानता हूँ···जब लौटकर आऊँगा तो देखूँगा···जशोदा नहीं है। अथवा अकलवा अपनी माँ को खाकर चल बसा है। सुनूँगा—विनोदवा को आखिरी दिन घुनी खेसारी का 'घाठा' भी नहीं मिल सका था।···मैं खोजूँगा—यहाँ कहीं कोसला गाँव था ? यहाँ जशोदा थी ?···जशोदा मा-ई-ई !···जशोदा बेटी-ई-ई।

गाड़ी में आकर हम सभी चुप बैठे रहे, घंटों। गाड़ी आगे बढ़ी—मियाँबीघा गाँव की ओर। किन्तु गाँव के बाहर पहुँचकर हमारी हिम्मत नहीं हुई, गाँव में प्रवेश करने की।···हमारी गाड़ी लौट चली। रास्ते में, कोसला गाँव की ओर, खिड़की से झाँककर देखा—साँझ का अन्धकार घना हो गया था। एक नन्ही-सी रोशनी भी कहीं नहीं थी।···किन्तु, लगा विनोदवा की आँखें 'दपदपा' कर जल उठीं !

यदि कोसला गाँव की भूखी-प्यासी औरतें हमें गालियाँ देकर, झाड़ू-बुहारन से मार-मारकर, हमारे कपड़े-लत्ते नोंच-खसोट कर गाँव से विदा करतीं तो हम अपने बचाव के लिए न उँगली उठाते और न मुँह से 'चूँ' शब्द निकलता।···हमारे पेट में अन्न भरा था, देह पर ज़रूरत से ज़्यादे कपड़े थे। हमसे बढ़कर और कौन अपराधी होगा ?···

वही अच्छा होता। क्यों कह आया कि लौटकर फिर आऊँगा ?···क्या लेकर आऊँगा। खाली हाथ—भरे पेट, किस मुँह से आऊँगा यहाँ···अज्ञेय मुझे कहाँ ले आये ?

"हम कहाँ आये ?···छह बज गये ?"

"नवादा।"

"हम आज रात कहाँ ठहरेंगे ?"

"यहीं। लेकिन, सबसे पहले यहाँ के एस० डी० ओ० से मिलना आवश्यक है। अभी, तुरत···।"

जितेन्द्र ने घड़ी देखकर कहा : "मेरी 'बस' में अभी एक घण्टा भर देरी है। चलिए···।"

नवादा के एस० डो० श्रो० जनाब श्रब्दुल खैर के बँगले पर जब हम पहुँचे, रोशनी जल चुकी थी। बरामदे पर, बाहर में कई कारिन्दे, क्लर्क श्रौर चपरासियों के अलावा तीन-चार 'व्यापारी-कम-नेता' किस्म के लोग भी थे। हमें 'चेम्बर' में बैठाकर चपरासी अन्दर से खबर ले आया कि 'साहब' नमाज़ पढ़ रहे हैं।···इस समय 'मग़रिब की नमाज़' (यानी सूर्यास्त के समय पढ़ी जानेवाली) पढ़ रहे हैं या 'नमाजे-इस्तरका' (अकाल श्रौर सूखा के समय वर्षा के लिए पढ़ी जानेवाली)?

हम 'अरदास' लगाकर बैठे। ज़िन्दगी में बहुत बार बहुत-से 'हुज़ूरों' के दरबार में दीदार के इन्तज़ार में बैठा हूँ। इसलिए, ऐसे लोगों को अच्छी तरह पहचानता हूँ जो मिलनेवालों को 'अन्दर हवेली' से खबर भेजते रहते हैं—मालिक पूजा कर रहे हैं या साहब नमाज़ पढ़ रहे हैं।

कोने की दीवार पर गया जिले का बड़ा नक्शा टँगा था। अज्ञेय श्रौर जितेन्द्र कोने में खड़े होकर नक्शा देखने लगे। मैं बैठा सोच रहा था कि हाकिम साहब अभी आयेंगे तो उनके चेहरे पर कैसे भाव होंगे। पूजा-ध्यान श्रौर रोज़ा-नमाज़ के बाद आदमी का तन-मन पिघला-सा रहता है। लेकिन हाकिम पर्दा हटाकर प्रकट हुए श्रौर मारे अचरज के अवाक् हो गये। शायद, पूछना चाहते थे—आप लोग कौन हैं जो इस तरह मेरी ग़ैर-हाज़िरी में मेरे दफ़्तर का नक्शा देख रहे हैं? लेकिन, हकलाते हुए बोले—"आप लोग कौन···आप लोगों को पहचाना नहीं।"

जितेन्द्र बोले : 'आदाब अर्ज़। अभी बतलाता हूँ। आप हैं दिनमान-सम्पादक···मैं जितेन्द्र···श्रौर आप हैं···। हम 'ड्राउट-एफेक्टेड' इलाके में घूम रहे हैं।"

"श्रो-ो-ो! मैंने समझा कि आप लोग कोई रिलीफ देने आये हैं। ···खैर! तो, महाशय रिलीफ़ यानी 'सहाय' का काम देखने के लिए तो ···और हाँ, 'रिलीफ़' का क्या मतलब समझते हैं, आप? सहायता? जी नहीं! ग़लत! रिलीफ़ का सही माने है 'स-हा-य'!'···समझा?"

जितेन्द्र आँखें मूँदकर श्रौर सिर झुकाकर खैर साहब के तर्जे-बयाँ का मज़ा ले रहे थे। अज्ञेय मेरी श्रोर देखते हैं : आदमी ज़िन्दादिल है···

हमें पद-यात्रा के लिए सहर्ष प्रस्तुत देखकर उनको फिर अचरज

हुआ। कहने लगे—सहाय का कार्य और 'कार्यक्रम' तो वही है जो आ लोगों ने पढ़ा होगा या यहाँ आने के पहले सुना होगा।···अंचल अधिकारी अर्थात् अंचलाधिकारी···अर्थात्···मतलब समझते हैं न?"—अज्ञेयजी से इस बार पूछा गया।

"हाँ साहब, समझने की बात है। आज कल, हर बात का सही और ग़लत मतलब होता है। अब तक मैं जानता था कि 'प्रधानमन्त्री' का मतलब 'प्राइम मिनिस्टर' होता है। मगर, यहाँ आकर मालूम हुआ कि यहाँ भी एक 'प्रधान मन्त्री' रहते हैं···।"

मैंने अचरज से पूछा : "दूसरे प्रधान मन्त्री कौन हैं?"

उन्होंने हँसकर मेरी ओर देखा और एक स्थानीय सार्वजनिक संस्था का नाम लिया। यह पूछने पर कि विधान-सभा में इस क्षेत्र से प्रतिनिधि कौन हैं, जवाब मिला—"साहब, यहाँ 'कांग्रेस-राज' नहीं। यह 'जनसंघी' पाकेट है।···'जन-प्रतिनिधि' विधानसभा में हमेशा ग़लत सवाल करते हैं और उनको जवाब भी हमेशा ग़लत मिलता है।"

हम खैर साहब को मान गये!

हमें बाहर से आनेवाले खाद्यान्न के दैनिक आँकड़े पूछने की जरूरत नहीं पड़ी। हाकिम ने बा-तकल्लुफ़ हम लोगों से माफ़ी माँगकर टेलिफ़ोन उठाया और उस छोर पर बैठे किसी 'साहब' को पिछले कई दिनों के आँकड़े देने लगे—"हाँ, लिखिए! लिख रहे हैं न? तारीख पचीस नवम्बर ···पाँच वैगन मकई···जनाब, यहाँ से तिलैया स्टेशन की लाइन 'जाम' है। वैगन खाली हो जल्दी तब तो···रात में हमारे सिपाही पहरा तो करते हैं, मगर···कल ही रात कई मुसहरों को पकड़ा है—बोरे से अनाज निकाल रहे थे···और सब ठीक है···उधर का क्या हाल है···आज का 'स्टेटमेण्ट' तो स्टेशन से आदमी आने पर ही दिया जा सकेगा···आदाब अर्ज़!"

एस० डी० ओ० साहब ने 'रेड कार्ड' के बारे में पूछा। जवाब देते समय उनके होंठों पर फिर 'वक्र मुस्कराहट' खेल गयी। बोले—'रेड कार्ड! रिलीफ़ कोड ११८?···हाँ, साहब। कार्ड बँट रहे हैं। जहाँ अब तक नहीं बँटे हैं, आशा है कि 'शीघ्रा-ति-शीघ्र'···!"

हमने कोसला और मिर्याबिघा का नाम लिया और सूचना दी—"वहाँ रेडकार्ड नहीं मिला है किसी को।···वहाँ की हालत चिन्ताजनक है।"

इतनी देर में पहली बार खैर साहब को गम्भीर होते देखा। उन्होंने न जाने क्यों, हमारी ओर बारी-बारी से देखा और फिर गर्दन हिलाते हुए कहा—"हाँ, उधर नहीं बँटा है।···मैं हँसुआ के अंचलाधिकारी को कल ही ताकीद करता हूँ। ··हालत चिन्ताजनक नहीं रहेगी।···और मेरे 'योग्य' कोई सेवा ?"

भूमि-दर्शन की भूमिका (५).

हम नवादा के 'इंसपेक्शन बंगलो नम्बर वन' के अहाते में दाखिल हुए। पास ही बस-स्टेंड है, जहाँ आने-जानेवाली गाड़ियाँ पन्द्रह मिनट तक रुकती हैं। बहुत बार इस सड़क से हजारीबाग़ गया हूँ। हर बार, इस 'इंसपेक्शन बंगलो' में एक रात गुज़ारने की ख्वाहिश हुई है। लेकिन, यहाँ आकर लगता है कि यहाँ बहुत बार रह चुका हूँ। यहाँ ही नहीं, किसी भी 'इंसपेक्शन' या डाक' अथवा 'हाल्टिंग'-बंगले में पहुंचकर लगा है, इसके पहले भी रात बिता चुका हूँ। यहाँ खानसामा-बावर्ची के एक ही जैसे चेहरे। हर जगह की 'छोटी' और 'बड़ी हाज़िरी' के एक ही स्वाद और कमरों में एक ही तरह की गन्ध। हर 'बंगले' में देखा है, मच्छरदानी लगानेवाले डण्डे और खूंटे इसी तरह, हिलते-डुलते रहते हैं।···

ऐसे पड़ाव पर पहुँचते ही 'साहब लोग' सबसे पहले बावर्ची को बुलवाते हैं : ब्रेकफ़ास्ट या लंच अथवा डिनर में क्या दे सकता है ? और, हर बावर्ची एक ही जवाब देता है—"जो आर्डर दीजिएगा, बन जायेगा। ···स्पेशल-डिश भी बन जायेगा।"

हमने पहुँचते ही एक 'पॉट' गर्म पानी का ऑर्डर दिया।

कॉफ़ी पीने के बाद, कुछ देर तक बाहर अकेला खड़ा पूर्णिमा के चाँद को देखता रहा। याद आयी : उत्तर बिहार के भारत-नेपाल सीमा-वर्ती अंचलों में आज की रात 'समाचकेवा' पर्व मनाया जा रहा होगा। हिमालय से उतरनेवाले पंछियों का स्वागत कर रही होंगी—हर गांव की कुमारी कन्याएँ—दल बाँधकर गीत गाती हुईं···! जिस साल धान

की फसल मारी जाती है, एक भी मुर्गाबी या लालसर की आवाज़ नहीं सुनाई पड़ती—हालांकि कभी-कभी पचासों एकड़ धान को एक ही रात में 'चुग' कर साफ कर देती हैं, इनकी टोलियां। फिर भी, इन चिड़ियों के आगमन को शुभ समझा जाता है।···

एक पवित्र-मधुर सुगन्ध ने मन में सन्ध्या-आरती की वेला का शंख फूंक दिया, मन के कोने में। कमरे में लौटकर देखा, 'यायावर' अपने दिन-भर के काम का 'लेखा-जोखा' ले रहा है—चुपचाप।···यात्री को मन-पसन्द धूपबत्ती का एक पैकेट हमेशा साथ रखना चाहिए। हर जगह—जहां भी जाइए—अपने ही कमरे की गन्ध मिलेगी···हर पड़ाव पर अपना घर।

बावर्ची से जिस चीज के बारे में पूछा, एक ही जवाब मिला—"फस्टक्ला-स !" आटा बढ़िया होगा न ?—फस्टक्ला-स ! फुलके यानी चपाती बनाना जानते हो न ?—फस्टक्ला-स ! बगैर मिर्च-मसाले की सब्ज़ी ?—वेजिटेबल-स्टू ? फस्टक्ला-स !···

बावर्ची से इस इलाक़े के सूखा और अकाल के बारे में कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ। एक ही जवाब मिलेगा—फस्टक्ला-स।

रात्रि-भोजन के समय मुंह में पहला कौर डालते समय—बिनोदवा और जसोदा की याद आयी। नर्म-गर्म फुलके की तारीफ नहीं कर सका। मुझे लगा, अज्ञेय की आंखों के सामने भी उन्हीं की मूर्तियां प्रकट हुईं। 'वेजिटेबल-स्टिउ' के बारे में कुछ कहना चाहते थे। नहीं कह सके।··· हम कुछ क्षण तक हाथ में रोटी के टुकड़े लेकर बैठे रहे।

···महुआ की आधी रोटी और खेसारी का घाठा खाकर बच्चे चिरकुट-कथरी के नीचे घुटने से ठुड्डी लगाकर सो गये होंगे।···खैर साहब ने कहा है, शीघ्रातिशीघ्र उन इलाकों में रेड कार्ड बंट जायेंगे।··· विदेशों से मिल्क पाउडर, विटामिन की गोलियां और 'जैम-जेली' के हज़ारों-हज़ार डिब्बे आ रहे हैं।··· कोई भूख से नहीं मरेगा।

"चपाती सचमुच फस्टक्लास बनाया है।"

"और स्टिउ भी।"

"अंचल अधिकारी अर्थात् अंचलाधिकारी।"

"रिलीफ़ का अर्थ सहायता !"

"गया के ए-डी-एम आर० एन० घोष बहुत निष्ठापूर्वक हिन्दी बोलते थे।"

"ख़ैर साहब का प्रश्न ?...क्या रिलीफ़ देने आये हैं, आप लोग ?"

"प्रतिनिधि ऐसे हैं कि हमेशा ग़लत सवाल पूछते हैं और ग़लत जवाब मिलता है।"

"बाहर पटाखे...कैसे छूट रहे हैं ? पूर्णिमा...लक्ष्मीपूजा के उपलक्ष्य में ?"

"पता नहीं।"

"धान के पौधों को काटने के बाद धरती में जो हिस्सा रह जाता है, उसको यहाँ क्या कहते हैं ?"

"खूट्टी।"

"आपने पूछा था कब भात खाया, तो क्या जवाब दिया ?"

"आसिन महीने में ही।"

"मुसहर नाम क्यों ?"

"शायद 'मूषक' के बिल से अनाज निकालकर खाने के कारण। शायद, मूषक का शिकार करके खाने के कारण।"

"मरते हैं और मरेंगे तो ये...भूमिहीन लोग ही।"

"हुँ...। कल हम लोग किस समय चलेंगे ?"

"यह आपके ऊपर है। आप जब तैयार हो जायें।"

सुबह जल्दी उठने के लिए रात को जल्दी ही सो गया। नींद भी जल्दी आयी। टूटी भी शीघ्र ही—रात के डेढ़ बजे ! कई भीषण धड़ाके और विस्फोट सुन कर 'धड़फड़ा' कर उठ बैठा—पटाखे नहीं, बम...!

डेढ़ बजे रात से शुरू करके भोर साढ़े चार बजे तक यही विस्फोटक सिलसिला रहा। हर दस मिनट के बाद गोलाबारी ! आँख में लौटी हुई नींद उड़ जाती। पेड़ों पर सोये हुए परिन्दे डैने फटपटाकर अन्धकार में फिर इधर-उधर उड़ते।...सो नहीं सका: अच्छा हुआ। नींद के साथ सपने भी आते थे। ऐसे सपने, जिन्हें देखकर आदमी नींद में 'गों-गों' करने लगे। पसीने से तर-बतर हो जायं।

···चाय का सही स्वाद, सौरभ और गुण रात्रि-जागरण के बाद ही मिलता है।

सूरज उगा। नक्शा खुला। नक्शा खुलते ही मुझे संस्कृत पाठ के उन 'पण्डितों' की कहानी याद आती है जो हर 'चतुष्पथ' पर पहुँचकर शास्त्र खोलते और खोजते थे—कः पन्थाः ?···महाजनो येन गतः···जमुई से पहले यह कौन-सी जगह है जहाँ बिहारशरीफ से एक सड़क आकर मिल जाती है ?

फिर, डायरी में लिखे जगहों के नाम नक्शे में खोजे जा रहे हैं : कौआकोल, पकरी-बरावाँ, देवनगढ़, चौरमा, खड्गौर, कादिरगंज···। एक-एक गाँव के नाम के साथ सैंकड़ों मुखड़े आँखों के सामने उभरते हैं—माटी के पुतले ! हजारों भूखी—आक्रोश से जलती हुई आँखें ! सिर्फ, एक स्थान के नाम के साथ एक ही व्यक्ति की सूरत सामने आती है। सोखोदेउरा : जयप्रकाश···।

हमारी गाड़ी नवादा छोड़कर कौआकोल की ओर बढ़ी जा रही है। और, मेरी स्मृतियाँ मुझे तेज गति से पीछे की ओर लेकर भागी जा रही हैं—१६४०, ४१, ४२ की ओर।

···देवली कैम्प-जेल से एक लेख लिखकर बाहर भेजा है जे० पी० ने। उसे पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया गया है—'क्या यह युद्ध अविभाज्य है ?'···देवली कैम्प-जेल से, प्रभावतीजी के हाथ भेजते समय एक चिट्ठी पकड़ी जाती है। अंगरेजी सरकार देश-विदेश के पत्रों में उस चिट्ठी को प्रकाशित करके जे० पी० को 'बदनाम' करने की चेष्टा करती है। लेकिन वह चिट्ठी ऐतिहासिक महत्त्व की हो जाती है। 'अगस्त क्रान्ति' में—जे० पी० की चिट्ठी में बताये गये प्रोग्राम ही कारगर साबित हुए।···जे० पी० का जेल से पलायन। आजाद-दस्ते का संगठन। हनुमाननगर (नेपाल में) गिरफ्तारी। फिर, आजाद दस्ते के सैनिकों द्वारा हनुमाननगर जेल पर हमला···बहुत-सी घटनाएँ।

···जेल में हमारे एक 'मिलिटेंट कामरेड' ने एक 'प्रतिदल' के कार्यकर्त्ता को उठाकर पटक दिया था और छाती पर बैठकर पूछ रहा था—"फिर जे० पी० को रिएक्शनरी कहेगा ?···जान से मार डालूँगा।"···

पगली-घंटी वज गयी थी।

···जेल से रिहा होने के वाद मेरे एक मित्र ने जे० पी० की शान के खिलाफ़ कुछ कह दिया तो वचपन के उस लँगोटिया यार से फिर मेरी कभी वातचीत नहीं हुई—"ग्राइ हेट टु टाक विद यू···।"

गाड़ी रुकी। 'यायावर' को भूखे-प्यासे वैल-गायों का एक भुण्ड मिल गया है।···वहाँ, उस खेत में हल में जुता हुग्रा एक जानवर गिर पड़ा है।···ग्राकाश में गिद्धों की टोली डैने पसारकर 'भाँवरी' ले रही है।··· सड़क के दाहिनी ग्रोर छोटी-छोटी पहाड़ियों ग्रौर चट्टानों पर कुहरा-सा छाया हुग्रा है। धरती पर एक ही रंग पुता हुग्रा है—धूसर, उदास। शस्यहीना धरती पर—दरारें।···'पतरंगा' चिड़िया पास ही किसी भाड़ी में वैठकर ग्रपने जोड़े को पुकार रही है।

एक लड़के के हाथ में ग्रच्छी जाति का ऊख देखकर मैं समझ गया, सोखोदउरा ग्राश्रम ग्रव नज़दीक है। ग्राश्रम पहुंचने के पहले एक वार फिर पीछे की ग्रोर मन भागा।···प्रथम ग्राम चुनाव के वाद, पटना के ग्रंजुमन-इस्लामिया-हॉल में चुनाव में हार-जीत के कारणों पर विचार करने के लिए 'पार्टी' की ग्राम सभा वैठी है—सैद्धान्तिक सवालों के ग्रलावा व्यक्तिगत ग्राक्षेप ग्रौर ग्रारोपों के तीर एक-दूसरे पर छोड़े जा रहे हैं।···जे० पी० ग्राँखों में ग्राँसू भरकर सभा-भवन से वाहर निकल गये ग्रौर तभी से निकले हुए हैं।···ऐसे लोगों की एक वड़ी जमात है जो जे० पी० से नाराज़ हैं। जो मानते हैं कि जे० पी० ने उनकी 'जवानी' को मुफ़्त में वर्वाद कर दिया। भारत में ही नहीं, एशिया के समाजवादी ग्रान्दोलन को जे० पी० ने नुक़सान पहुँचाया है···मैं भी उनसे नाराज़ लोगों में से एक हूं। लेकिन, मेरी नाराज़गी के ये कारण नहीं।

ग्राश्रम पहुँचते ही कई 'प्रस्तर-मूर्तियों' पर ग्राँखें पड़ीं।···रानीपतरा सर्वोदय ग्राश्रम ग्रौर इस ग्राश्रम में क्या ग्रन्तर है, वह इन कलाकृतियों को देखकर समभ गया।

ग्राश्रमवासियों के साथ डेढ़-दो घण्टे तक रहकर—हमें जो कुछ जानना ग्रौर पूछना था—जान लिया। विना कुछ पूछे जो कुछ जाना जा सकता था, जान लिया। ग्राश्रम के कृषि-विशेषज्ञ ने हमें पाँच पके हुए

अमरूद दिये—जे० पी० के आश्रम का फल। सूंघकर देखा, अच्छी जाति का है।

परसामा गांव के पास खेत में करीब दो-तीन सौ मजदूर काम कर रहे थे। मिट्टी का काम। पानी का खजाना! हमारी गाड़ी रुकी। ऐसा लगा, कोसला और मिर्याविघा के सभी भूमिहीन मुसहर रजवार ही अपने बाल-बच्चों के साथ यहां काम पर जुटे हुए हैं। यहां भी 'बोली' ने हमारी बड़ी मदद की। मुंगेर के इस अंचल में अपभ्रंश 'अंगिका' बोली जाती है। …भारत को यहां की बोली में 'भता' कहा जाता है।…यहां भी वही आक्रोश, वही गुस्सा। किन्तु यहां भी उन्होंने अपना दिल खोलकर हमारे सामने रख दिया।…भैया, छिपावें के भी बात तोहरा से? ऐहन दिन… जिनिये में 'भता' खैलिए…।

जयप्रकाशजी के आश्रम के पांच फलों में से दो हमने बंगाली मुसहर (उस नामहीन नारायण) के पांच साल के पुत्र को दिया…तुम्हारा फल, तुम्हीं को समर्पित…।

भूमि-दर्शन की भूमिका (६)

अज्ञेयजी ने हाथ में अमरूद लेकर बंगाली मुसहर के बच्चे को बुलाया तो पहले वह झिझका। उसको विश्वास ही नहीं हुआ। फिर 'हुलसता' हुआ दौड़ आया। उस समय उसके सूखे-मुरझाये चेहरे पर एकाएक आनन्द की आभा देखकर लगा—कोई 'अलौकिक' दृश्य देखा ! ऐसा लगा, मिट्टी की मूर्ति अचानक··· (नहीं, इतना अधिक भावुक होने की आवश्यकता नहीं ! भावुकता के 'दौरे' में ही 'नक्षत्र मालाकार' ने···!)

कल शाम से ही रह-रहकर 'नक्षत्र मालाकार' की याद आ रही है।··· १६४६ में पूर्णिया-भागलपुर के कुछ इलाक़ों में अकाल पड़ गया था। सभी बड़े किसानों और ग़ल्ले के व्यापारियों ने अनाज छिपा लिया था। 'हाहाकार' मचा कि बंगाल के बाद इस बार बिहार की बारी है। किसान-मज़दूरों की पार्टियाँ आवश्यक बैठक बुलाकर अकाल की समस्या पर विचार करने का प्रोग्राम तय ही कर रही थीं। उधर, नक्षत्र मालाकार ने हज़ारों भुक्खड़ों की टोली लेकर बड़े किसानों और व्यापारियों के 'बखार' और 'गोले' को लुटवाना शुरू कर दिया। रोज़-रोज़ ख़बरें आने लगीं—आज मोहनपुर में···आज ढोलबाजा में···आज पीरपैंती के हाट पर···। उसका नाम सुनते ही ग़रीबों के गाँव में खुशी की लहर दौड़ जाती; अमीरों की हवेलियों में सन्नाटा छा जाता और अधिकारियों का आराम हराम !···फ़रार नक्षत्र पर पाँच हज़ार रुपये का इनाम 'बोला' गया। 'हमारी' पार्टी ने स्पष्ट कर दिया कि वह हमारे दल का सदस्य नहीं, उ पार्टी से निकाल दिया गया है !···मैं नक्षत्र को बहुत नज़दीक से जान

था। एक गरीब माली का बेटा, जिसके पिछवाड़े में बस एक धुर जमीन थी, जिसमें फूलों की खेती होती थी। जवानी में कदम रखने से पहले ही सत्याग्रहियों के शिविर में चला गया। जेल गया। फिर १९३७-३८ में जयप्रकाशजी द्वारा परिचालित 'समर स्कूल ग्रॉफ पॉलिटिक्स' सोनपुर में समाजवाद का मन्त्र पाया। (नक्षत्र मालाकार नाम जयप्रकाशजी ने ही दिया था। नहीं तो, उसका नाम नछत्तर माली ही रहता या नछतरा···) १९४२ की क्रान्ति में जिसकी बहादुरी की कहानियाँ सुनकर बूढ़ों की हड्डियाँ भी कसमसाने लगती थीं। गोरे फौजी तक जिसके नाम को सुनकर घबराते थे।···*ऐसे साथी को लुटेरा और डकैत कहने का साहस हममें* नहीं था। हमने उसे 'गुमराह' कहा। उन्हीं दिनों, साप्ताहिक 'जनता' (पटना) में अकाल पर मेरा एक लम्बा रिपोर्ताज प्रकाशित हुआ, जिसमें नक्षत्र के 'कृत्यों' की आलोचना और निन्दा की गयी थी।···नक्षत्र अपने विरोधियों और दुश्मनों की 'नाक' काट लेता था। (पूर्णिया-भागलपुर में आज भी दर्जनों ऐसे नकटे-कनकटे हैं, जिन्हें नक्षत्र ने ही सजा दी थी।) रिपोर्ताज प्रकाशित होने के कई सप्ताह बाद मेरे पास नक्षत्र ने जो संवाद भेजा, उसका आशय था: जिस नाक-कान पर तुम सुनहले फ्रेम का चश्मा लगाकर लिखते-पढ़ते हो, उसको काटने के लिए जब रात में पहुँचा, तब तुम लिख रहे थे। उस समय तुम्हारा चेहरा मुझे फूल-जैसा लगा। तुम जो मन में आये, लिखो। मुझे गालियाँ दो। मगर, एक बार इन गाँवों में आकर देखो। सबकुछ भूल जाओगे।···आदमी इतना बेदर्द हो सकता है?···सात दिन के भूखे बच्चों के मुँह पर हँसी देखकर जेल-फाँसी और नरक सब कबूल करके तुम भी वही शुरू करोगे जो मैं कर रहा हूँ।···

दस-पन्द्रह वर्षों के बाद, अब लगता है कि साथी नक्षत्र ने ठीक ही कहा था—जेल-फाँसी और नरक सब कबूल···(नहीं, इतना अधिक भावुक होने की आवश्यकता नहीं!)

जमुई पहुँचते-पहुँचते मेरे मन की वेदी पर फिर एक मूर्त्ति आकर विराज गयी। जिसकी प्रतिमा को तोड़ चुका था, उसी जयप्रकाश की एक नयी मूर्त्ति···(नहीं, इतना अधिक भावुक होने की आवश्यकता नहीं!) लेकिन, मेरा विश्वास है, यदि यह 'आदमी' नहीं होता तो यह सूखी धरती

आज लहू की धारा में नहाती रहती।

'यायावर' मरे हुए पशुओं के कंकालों के पास लड़ते हुए कुत्तों, उड़ते हुए गिद्धों और कागों के झुण्ड को देखकर उतर पड़ते हैं। मैं अपने मन में सद्यःस्थापित मूर्ति को फिर हिलाता-डुलाता हूं। (भावुक होने के बदले 'साइंटिफिकली' सोच-विचारकर जे० पी० को 'क्रान्ति' की राह का रोड़ा क्यों न कहा जाये ? क्योंकि, 'शास्त्र' कहता है···!)

जमुई से वापस लौटते समय सिकन्दरा के चौराहे पर फिर नक़्शा खोला गया (कः पन्थाः ?)। जाते समय ही 'यायावर' ने ड्राइवर से पूछा था, "सिकन्दरा से विहारशरीफ़ जानेवाली सड़क कैसी है?" ड्राइवर ने बिना जाने-बूझे ही कह दिया था—"बहुत रद्दी। इत्ता बड़ा-बड़ा रोड़ा है रास्ते में। कच्चा है···।" किन्तु, 'यायावर' की समझ में यह बात नहीं आ रही थी कि पुरानी सड़क को रद्दी क्यों बना दिया गया जबकि नयी-नयी सड़कें खुलती हैं···पुरानी सड़क की तो और अच्छी अवस्था होनी चाहिए। अतः सिकन्दरा पहुंचकर हमने 'बस कण्डक्टरों' से पूछा। मालूम हुआ, सड़क की हालत बहुत अच्छी है। चौराहे पर पहुंचकर गाड़ी रोकी गयी—हम पढ़ने लगे, यहां से विहारशरीफ़ कितनी दूर है, नवादा कितने माइल···कि पास वाली दुकान से एक आदमी दौड़कर आया। देखने में वह 'रोड सरकार' यानी 'सड़क का चौकीदार' की तरह लगता था—नाटा, चेहरे पर चेचक के दाग़, खाकी 'हाफ़-शर्ट' पहने और हाथ में एक छोटा-सा डण्डा। लपककर उसने पूछा—"ह्वाट ? ह्वाट ?"

उसके गले की आवाज़ सुनकर ही समझ गया—गांजा! फटी और बुझी हुई आवाज़ में उसकी अंग्रेज़ी समझ में नहीं आयी। उससे पूछा—"भाई, विहारशरीफ़ जाने वाली यह सड़क कैसी है ?"

"दिस रोड इज़ वेटर।" उसने जवाब दिया।

चाय की दुकानों पर बैठे हुए लोगों को हँसते-मुस्कराते देखकर समझ गया कि यह आदमी यहाँ का 'मसखरा' है। अज्ञेयजी ने कहा—"अरे भाई, आप अंग्रेज़ी में क्यों बोल रहे हैं ? हम तो हिन्दी में पूछ रहे हैं ?"

बात पूरी होने के पहले ही उसने जवाब दिया—"क्योंकि मेरा जन्म अंग्रेज़ों के समय हुआ था।···यैस। बार्न इन इंग्लिश राज। माइ नेम ?···

लाला एजेण्ट ! यैस···यैक्यू···सैल्यूट।"

हम बहुत देर तक हँसते रहे।···सिकन्दरा चौक पर, चाय की दुकानों पर बैठे हुए लोग भी बहुत देर तक हँसते रहे होंगे। यदि अज्ञेय नहीं होते तो मैं यहाँ रुक जाता। तीसी के तेल में पकते हुए उरीद के गरम-गरम पकौड़े···काली-काली केतलियों की टोंटियों से अनवरत निकलते हुए भाप···धुरमुरे···गपशप चारों ओर के···बसों पर चढ़ते-उतरते लोगों के चेहरे···गाँजे का धुआँ और लाला एजेण्ट की मसखरी···!

अपनी डायरी में नोट कर लिया है : यहाँ फिर कभी आना है।··· राह-चलते, एक-दो सेकण्ड के लिए कोई मिलता है और हमारे मन को गुदगुदाकर हँसा देता है। ऐसे लोग बहुत बार मिलते हैं। उनकी याद एक-एक कर आती है···।

"दिस रोड इज बेटर !"

'यायावर' के नक्शे में अंकित सड़क के दोनों ओर पुराने पेड़ों की पंक्तियाँ—पुरानी सड़क की यादगारी हैं। नयी सड़क बनी है। बायीं ओर पेड़ों की दुहरी पंक्तियाँ और दाहिनी ओर दूर तक फैले हुए खेत !··· अगहनी-साँझ की महक पहली बार मिली।

सचमुच, यह सड़क बेहतर है। दोनों ओर के गाँवों में पुआल के ढेर लगे हैं। धान की दवनी हो रही है। गाँवों की ओर लौटते हुए पशुओं के रोम-रोम पुलकित हो रहे हैं। सड़क के आसपास आने-जानेवाले प्राणियों के चेहरे पर नमी दिखलायी पड़ती है। अगहनी धान के नये चूड़े की और गुड़ की मिली-जुली गन्ध—जलते हुए पेट्रोल की गन्ध पर रह-रहकर छा जाती है। बोधगया से जमुई तक की सूखी-दरकी धरती और सूखे-मुरझे प्राणियों को देख-देखकर जलती हुई आँखों में कोई अंजन लेप गया। मानो इस 'पट्टी' में (बेल्ट को क्या कहेंगे ?) धान की अच्छी खेती हुई है।··· रबी की हरियाली गोधूलि के रंग में घुल-मिलकर तन-मन में समाने लगी।···

सामने, यानी ठीक पच्छिम में—राजगिर पहाड़ियों की चोटियों पर—तुरत डूबे हुए सूरज की किरणों के रंगीन परस ! पीछे, पूरब की ओर पूर्णिमा के एक दिन बाद उगनेवाले चाँद के उगने की गमक !

'अज्ञेय'जी को बचपन की बातें याद आने लगीं। पिता, माता और भाइयों की यादें!

मितभाषी 'अज्ञेय' एकाएक मुखर हो उठे। लगा, टेपरेकार्डर पर 'टेप' बजाकर 'संस्मरण' सुन रहा हूँ…!

…तीस-चालीस साल पहले, इसी इलाके में पुरातत्त्ववेत्ता श्री हीरानन्द शास्त्री धरती की खुदाई करवा रहे हैं। मिट्टी के नीचे से निकलने वाली सही-टूटी मूर्तियों के होंठों पर अंकित मुस्कराहट को देख-परखकर इतिहास के पुराने पृष्ठों पर फिर से कुछ लिखते जाते हैं।…आज यहाँ, कल वहाँ—कैम्प की जिन्दगी!

…बालक 'अज्ञेय' अपने भाइयों के साथ बिहारशरीफ बाज़ार आया है नाटक देखने—पहली बार। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक। खेल देखकर रोया है। और, लौटते समय—बिहारशरीफ़ से नालन्दा के बीच—सभी भाई डाकुओं के हाथ में पड़ जाते हैं। डाकुओं ने बैलगाड़ी के गाड़ीवान और नौकर को बाँध दिया और 'अज्ञेय-बन्धुओं' को अपने साथ लेकर चले। भाई लोग डरे, रोये। डाकुओं ने धमकी दी, चुप हो गये। किन्तु, 'अज्ञेय' को लग रहा था कि वह 'नाटक' ही देख रहा है। अन्त में, सत्य की ही जीत होगी। और हुई भी। डाकुओं को न जाने कैसे सुबुद्धि आयी—आपस में कुछ सलाह करने के बाद बच्चों को गाड़ी के पास पहुँचा दिया!

'स्मृति-कथा' सुनते समय रह-रहकर मेरी आँखों के सामने अखबारों में प्रकाशित होनेवाले आजकल के समाचारों की सुर्खियाँ साया हो जातीं …बिहारशरीफ के पास टैक्सी रोककर मुसाफिरों को लूट लिया गया… कल शाम को हजारीबाग की ओर से आनेवाली 'बस' को रोककर डाकुओं ने यात्रियों का सबकुछ छीन लिया…!! किन्तु, डरा नहीं। अन्त में, सत्य की जीत होती है!

पीठ-पीछे चाँद उगा। 'आलो-छाया' का 'खेल' शुरू हुआ। सामने से आते ट्रकों और जीपों की रोशनियाँ, बैल-गाय-भैंस-कुत्ते-सियार की जलती हुई आँखें…गाँवों में जलते हुए अलाव…, कस्बों की 'बिजली-बत्तियों' की माला।

शायद मुझे नींद आ गयी थी और चलती हुई गाड़ी में सपना देख रहा

था। पता नहीं···पास बैठे गुमसुम मद्रासी से यह पूछने का साहस नहीं हुआ कि वह अभी अपने बचपन की कोई कहानी सुना रहे थे क्या ?

ऐसा ही भ्रम, डाल्टेनगंज जाते समय हुआ !

पाली, विक्रम, अरवल के धनखेतों को देखते-देखते [illegible] लगा कि हम भारतीय नृत्यकला-मन्दिर में बैठकर कुमारी [illegible] का 'मोहिनी अट्टम्' नृत्य देख रहे हैं : सोलहों सिंगार करके मोहिनी अन्नपूर्णा लचक-लचक-कर पायल झनकारती हुई इस खेत से उस खलिहान में जा रही है—थिरकती हुई। रावीन्द्रिक किन्तु, गीत चल रहा है, आज सवारि रंगे रंग मिसाते होवे।···आज रंग-सागरे तूफान उठे···काँचा-सबुज धानेर खेते···।

नहरी इलाके की सुजला-सुफला धरती शस्य के भार से दबी हुई-सी लगती है। जहाँ तक दृष्टि जाती है—धानी रंग की माया। प्रत्येक प्राणी के चेहरे पर पानी है, मन में रस है। धान काटकर लौटनेवाले मजदूरों की चाल में मस्ती है। चरवाहे गीत अलाप रहे हैं। बच्चे-बच्चियों की किल-कारियाँ सुनायी पड़ती हैं। भर-पेट चारा-पानी पाकर जानवर बैठे जुगाली कर रहे हैं।···यह सब भोर का सपना तो नहीं ? मैं बार-बार आँखें मूँद-कर खोलता रहा। 'यायावर' अन्नपूर्णा की इस छवि को जी भरकर निहारने और आँकने के लिए गाड़ी से उतरकर खेतों के बीचवाली मेड़ पर चले गये हैं।

जवान मुसहर और मुसहरनियों की टोली धान काट रही है—'निट्ठुर' कर। मालिक-किसान कन्धे पर बड़ी लाठी (जिसे 'गोजी' कहते हैं यहाँ) लेकर मेड़ पर बैठा तहलथी पर खैनी मल रहा था और रसभरी 'बतियाँ' सुनाकर मजदूरों का मनोरंजन कर रहा था। हमें देख बोला—"अरे, फोटो लेना है तो चले जाइए मन्दिर में। बहुत-से भाग्य लोग आये हुए हैं।" हमारी ओर से कोई जवाब न पाकर उसने ड्राइवर गणेश से कहा—"का हो डलेवर साहेब ? गाँजा-वाँजा नहीं है पल्ले में ? एक चिलम चल जाये, तब तक।"

कौन कहेगा कि बिहार में सूखा और अकाल है ?···यह कैसी माया (कहीं धूप कहीं छाया !)···औरंगाबाद के बाद फिर धरती की झुलसी

हुई लाश पड़ी मिली ! कुरूप, कुत्सित, भूखण्ड···

आकाश में छाये सलेटी रंग के बादलों का रंग और भी गाढ़ा हो गया। पहाड़ियों की घुमावदार घाटियों के तीखे मोड़ शुरू हुए और आसमान झरने लगा। 'यायावर' के कैमरों को छुट्टी मिली।···मृदंगम ! मोहिनी अट्टम गाड़ी के इंजिन से लगातार एक नया सुर निकल रहा है — चढ़ाई-उतराई के समय देह में गुदगुदी लगती है।···'अज्ञेय' रह-रहकर डायरी में कुछ लिख लेते हैं।

घनघोर वृष्टि लेकर हम डाल्टनगंज पहुँचे, छह बजे शाम। डिप्टी कमिश्नर डॉ० कुमार सुरेश सिंह के बँगले पर सात बजे। डेढ़ घण्टे तक, सारे ज़िले की स्थिति और समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए डी० सी० साहब ने बार-बार कहा—बुरे दिन तो अब आनेवाले हैं !

किसी नयी जगह में रात में पहुंचना मुझे हमेशा अच्छा लगता है। सुबह सूरज की रोशनी में नयी जगह का रूप धीरे-धीरे उजागर होता है और एक अमिट छाप छोड़ जाता है, मन पर। किन्तु, सुबह झड़ी लगी हुई थी। सबकुछ ढँका-ढँका हुआ था।

सबकुछ इसी तरह रहता तो अच्छा होता। हम कहीं नहीं जा पाते। कुछ नहीं देखते। गया और जमुई के गांवों में खेतों में लड़ते हुए लोगों को देखकर बल मिला था। भूखी औरतों और बच्चों की आंखों में क्रोध की चिनगारी देखकर मन में एक श्रद्धा-सी उमड़ आयी थी। किन्तु पलामू में जो कुछ देखा···?

···२४ जुलाई, १९६६ को सुखाड़ी महतो ने भूख-प्यास से डाल्टनगंज में दम तोड़कर भुखमरी की घोषणा कर दी। २६ जुलाई को सुखदयाली भूइयां। २७ को जित्तन भूइयां।

···मन्नू मांझी की औरत। एक औरत तीन बच्चों के साथ कूप में गिरकर मर गयी। एक अज्ञात व्यक्ति···एक औरत···एक बच्चा···!!

दिन खुला। हम गांवों की ओर निकले। बसना गाँव में भारत-सेवक समाज की ओर से 'मुफ़्त लंगर' चालू किया गया है। डी० सी० उद्घाटन करेंगे। आयोजकों ने हमें भी निमन्त्रित किया है।

बसना पहुंचकर देखा, सैकड़ों भूखी आत्माएँ एक जगह एकत्रित होकर

हाकिम के आने की प्रतीक्षा कर रही है।…रोटियाँ सिक रही हैं। भाजियाँ कतरी जा रही हैं। प्रवेश-द्वार पर अशोक के पत्ते बाँधे जा रहे हैं। 'माइक' टेस्ट किया जा रहा है। भाषण देनेवालों के नाम नोट किये जा रहे हैं। कौन स्वागत करेगा, कौन धन्यवाद देंगे—सब ठीक किया जा रहा है और भूखों की भीड़ रह-रहकर सड़क की ओर देखती है—'इस गाड़ी से कौन आये?'

गया और मुंगेर के लोग हाथ-पाँव मार रहे थे। उबरने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे। यहाँ लोग हिम्मत हारकर—अपने को छोड़ दिया है…अब जो हो! क्या चारा है! हर आदमी के चेहरे पर मौत की छाया, जिसे देखकर अब वे डरते नहीं। डर-भय, सुख-दुःख, भूख-प्यास, हँसी-रुदन कुछ भी नहीं।…ठहर जाइए। प्यारे भाइयो! अब आपके सामने श्री…रिपोर्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके बाद प्रीतिभोज। जरा सब्र कीजिए।…बैठ जाइए। खड़े हो जाइए। इधर भीड़ मत लगाइए। सुनिए …प्यारे भाइयो!

…*ये लोग कौन हैं जो 'प्यारे भाइयों' को इस तरह 'प्यार' से सम्बोधित करके समझा रहे हैं? क्या ये नहीं जानते कि 'प्यारे भाइयों और बहिनों' को भाषण सुनाना व्यर्थ है?*

अति-नाटकीय ढंग से एक महिला (जो निश्चय ही अध्यापिका होगी) हाथ में माला लेकर बेसुरी आवाज में—"नैनों में तारे हमारे पधारे—हृदय में हमारे" गाती हुई प्रकट हुईं। मुझे लगा, डी० सी० साहब अब रोकेंगे। लेकिन, हम कुढ़ते रहे और वह महिला एक-एक पंक्ति पर एक-एक पग बढ़ाती गाती रही।…उसके हाथ की माला…उसकी नायलन की साड़ी…उसके गीत की पंक्तियाँ—वातावरण को और भी कुरूप बनाती रही।

अन्त में, पत्तल पड़े। हर पत्ते में एक रोटी और एक मुट्ठी सोयाबीन की घुघनी।…'फोटोग्राफर' तसवीरें खींचने में व्यस्त हैं। उनका कैमरा जिस पंक्ति की ओर मुड़ता है—उधर के पत्तों में रोटी तुरत डाल दी जाती है।…जिसके पत्ते में कुछ नहीं पड़ा है, वह मांग नहीं रहा है, चुप। चुप-चाप देख रहा है। बच्चे टूट पड़े हैं मगर किसी ओर न हँसी है, न रुलाई।

हुई लाश पड़ी मिली ! कुरूप, कुत्सित, भूखण्ड···

आकाश में छाये सलेटी रंग के बादलों का रग और भी गाढ़ा हो गया। पहाड़ियों की घुमावदार घाटियों के तीखे मोड़ शुरू हुए और आसमान झरने लगा। 'यायावर' के कैमरों को छुट्टी मिली।···मृदंगम ! मोहिनी अट्टम गाड़ी के इंजिन से लगातार एक नया सुर निकल रहा है—चढ़ाई-उतराई के समय देह में गुदगुदी लगती है।···'अज्ञेय' रह-रहकर डायरी में कुछ लिख लेते हैं।

घनघोर वृष्टि लेकर हम डाल्टनगंज पहुँचे, छह बजे शाम। डिप्टी कमिश्नर डॉ० कुमार सुरेश सिंह के बँगले पर सात बजे। डेढ़ घण्टे तक, सारे ज़िले की स्थिति और समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए डी० सी० साहब ने बार-बार कहा—बुरे दिन तो अब आनेवाले हैं !

किसी नयी जगह में रात में पहुँचना मुझे हमेशा अच्छा लगता है। सुबह सूरज की रोशनी में नयी जगह का रूप धीरे-धीरे उजागर होता है और एक अमिट छाप छोड़ जाता है, मन पर। किन्तु, सुबह झड़ी लगी हुई थी। सबकुछ ढँका-ढँका हुआ था।

सबकुछ इसी तरह रहता तो अच्छा होता। हम कहीं नहीं जा पाते। कुछ नहीं देखते। गया और जमुई के गाँवों में ख़ेतों में लड़ते हुए लोगों को देखकर बल मिला था। भूखी औरतों और बच्चों की आँखों में क्रोध की चिनगारी देखकर मन में एक श्रद्धा-सी उमड़ आयी थी। किन्तु पलामू में जो कुछ देखा···?

···२४ जुलाई, १९६६ को सुखाड़ी महतो ने भूख-प्यास से डाल्टनगंज में दम तोड़कर भुखमरी की घोषणा कर दी। २६ जुलाई को सुखदयाली भूइयाँ। २७ को जित्तन भूइयाँ।

···मन्नू माँझी की औरत। एक औरत तीन बच्चों के साथ कूप में गिरकर मर गयी। एक अज्ञात व्यक्ति···एक औरत···एक बच्चा···!!

दिन खुला। हम गाँवों की ओर निकले। बसना गाँव में भारत-सेवक समाज की ओर से 'मुफ़्त लंगर' चालू किया गया है। डी० सी० उद्घाटन करेंगे। आयोजकों ने हमें भी निमन्त्रित किया है।

बसना पहुँचकर देखा, सैकड़ों भूखी आत्माएँ एक जगह एकत्रित होकर

हाकिम के आने की प्रतीक्षा कर रही हैं।···रोटियां सिक रही हैं। भाजियां कतरी जा रही हैं। प्रवेश-द्वार पर अशोक के पत्ते बांधे जा रहे हैं। 'माइक' टेस्ट किया जा रहा है। भाषण देनेवालों के नाम नोट किये जा रहे हैं। कौन स्वागत करेगा, कौन धन्यवाद देंगे—सब ठीक किया जा रहा है और भूखों की भीड़ रह-रहकर सड़क की ओर देखती है—'इस गाड़ी से कौन आये ?'

गया और मुंगेर के लोग हाथ-पांव मार रहे थे। उबरने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे। यहां लोग हिम्मत हारकर—अपने को छोड़ दिया है···अब जो हो ! क्या चारा है ! हर आदमी के चेहरे पर मौत की छाया, जिसे देखकर अब वे डरते नहीं। डर-भय, सुख-दुःख, भूख-प्यास, हंसी-रुदन कुछ भी नहीं।···ठहर जाइए। प्यारे भाइयो ! अब आपके सामने श्री···रिपोर्ट प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके बाद प्रीतिभोज। जरा सब्र कीजिए।···बैठ जाइए। खड़े हो जाइए। इधर भीड़ मत लगाइए। सुनिए ···प्यारे भाइयो !

···ये लोग कौन हैं जो 'प्यारे भाइयो' को इस तरह 'प्यार' से सम्बोधित करके समझा रहे हैं ? क्या ये नहीं जानते कि 'प्यारे भाइयों और बहिनों' को भाषण सुनाना व्यर्थ है ?

अति-नाटकीय ढंग से एक महिला (जो निश्चय ही अध्यापिका होगी) हाथ में माला लेकर बेसुरी आवाज में—"नैनों के तारे हमारे पधारे—हृदय में हमारे" गाती हुई प्रकट हुई। मुझे लगा, डी० सी० साहब अब रोकेंगे। लेकिन, हम कुढ़ते रहे और वह महिला एक-एक पंक्ति पर एक-एक पग बढ़ाती गाती रही।···उसके हाथ की माला···उसकी नायलन की साड़ी ···उसके गीत की पंक्तियां—वातावरण को और भी कुरूप बनाती रही।

अन्त में, पत्तल पड़े। हर पत्ते में एक रोटी और एक मुट्ठी सोयाबीन की घुघनी।···'यायावर' तसवीरें खींचने में व्यस्त हैं। उनका कैमरा जिस पंक्ति की ओर मुड़ता है—उधर के पत्तों में रोटी तुरत डाल दी जाती है।···जिसके पत्ते में कुछ नहीं पड़ा है, वह मांग नहीं रहा है कुछ। चुपचाप देख रहा है। बच्चे टूट पड़े हैं मगर किसी ओर न हंसी है, न खुशी।

मैंने जीवन में ऐसे लोगों की भीड़ कम देखी है, चलते-फिरते मुर्दों की टोली। मुझे लगा, मुँह में ग्रास डालकर चबाते हुए बिना कोई स्वाद पाये ही लोग निगलते जा रहे हैं।

आयोजकों में से एक 'चौधरी क़िस्म' का आदमी किसी कार्यकर्त्ता से कह रहा था: "साइनबोर्ड का कपड़ा ठीक से खींच दीजिए।···फ़ोटो में ठीक से नाम उतरेगा नहीं।"

हम 'बसना' से भागे—पहाड़ी गाँवों की ओर। नावा, खेंगरा, केंडा, तुकवरो गाँव। जंगलों में झरबेरियों की झाड़ियों के नीचे खड़ी निराश औरतें। 'गेंठी' खोजते हुए जवान···।

ओकराहा गाँव के रत्तूसिंह ने हमें प्रेम से पाँच बेर लाकर दिये। 'बसना' में जो कुछ देखा था—रत्तूसिंह की एक सरल मुस्कराहट ने ही सबको पोंछ-मेट दिया। उससे पूछा गया कि जब यह बाजरा भी नहीं मिलेगा तो क्या करोगे? क्या होगा?

उसने उसी तरह सरलता से जवाब दिया—"होतै की? खायला न मिलतै—त मरतै।" खाने को नहीं मिलेगा, तो मरेंगे। और क्या होगा ···और क्या होगा?

रत्तूसिंह मर जायेगा तो क्या होगा? इतने लोग मर गये तो क्या हुआ?···क्या होगा? कुछ नहीं होगा।